पुस्तक मिलने का ठिकानाः—

१—जैनार्या श्रीमती पुण्यश्रीजी स्मारक ग्रन्थमाला

कुन्दीगर भैरवजी का रास्ता, जैन धर्मशाला

जयपुर सिटी, (राजपूताना)

२—श्रीमान् सेठ सुगनचंदजी सौभाग्यचंदजी जौहरी.

जौहरी बाज़ार, जयपुर सिटी

सूचना—यह पुस्तक मंगवाने वाले महाशय रजिष्टर पोष्ट खर्चा के लिये छह आने की पोष्ट टिकिट भेजने की कृपा करें।

मुद्रक—जवाहरलाल लोढा, श्वेताम्बर प्रेस, मोतीकटरा आगरा।
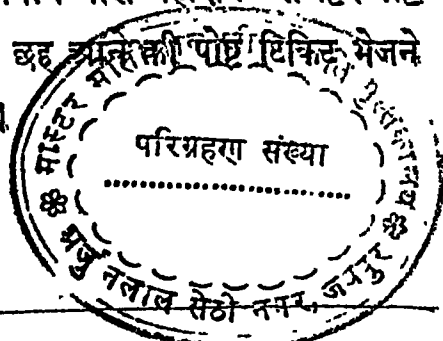
युगादिजिनदेशना

जैनधर्मोपदेशिका जैनार्या प्रवर्त्तिनी श्रीमती पुण्यश्रीजी महाराज.

जन्म	दीक्षा	स्वर्गवास
सं० १९१५	सं० १९३०	सं० १९७६
वैशाख शुदि ६	वैशाख शुदि ११	फाल्गुन शुदि १०

* समर्पण *

श्रीमती परमपूज्यपादा प्रातःस्मरणीया विद्वद्वर्य्या सुप्रसिद्धजैनधर्मोपदेशिका प्रवर्त्तिनी गुरुणीजी महाराज श्री श्री श्री १००८ श्री श्री पुण्यश्रीजी महाराज की परम पवित्र सेवा में ।

आप अनेक जगह विचर २ कर मनुष्यों के कल्याण के लिये सर्वदा धर्मोपदेश दिया करती थीं । मेरे जैसी सैंकड़ों अबोध बालिकाओं को अपने सद्बोध वचनामृतों से सिंचन कर सन्मार्ग में लाये । इतना ही नहीं, किन्तु सद्ज्ञान दर्शन और चारित्र देकर इस पतित जीवन से उद्धार किया । इन महान् उपकारों से ऋणी होकर सविनय भक्तिपूर्वक यह लघुग्रन्थ आपके करकमल में समर्पित करती हूँ ।

भवच्चरणचञ्चरिका—
विनयश्री
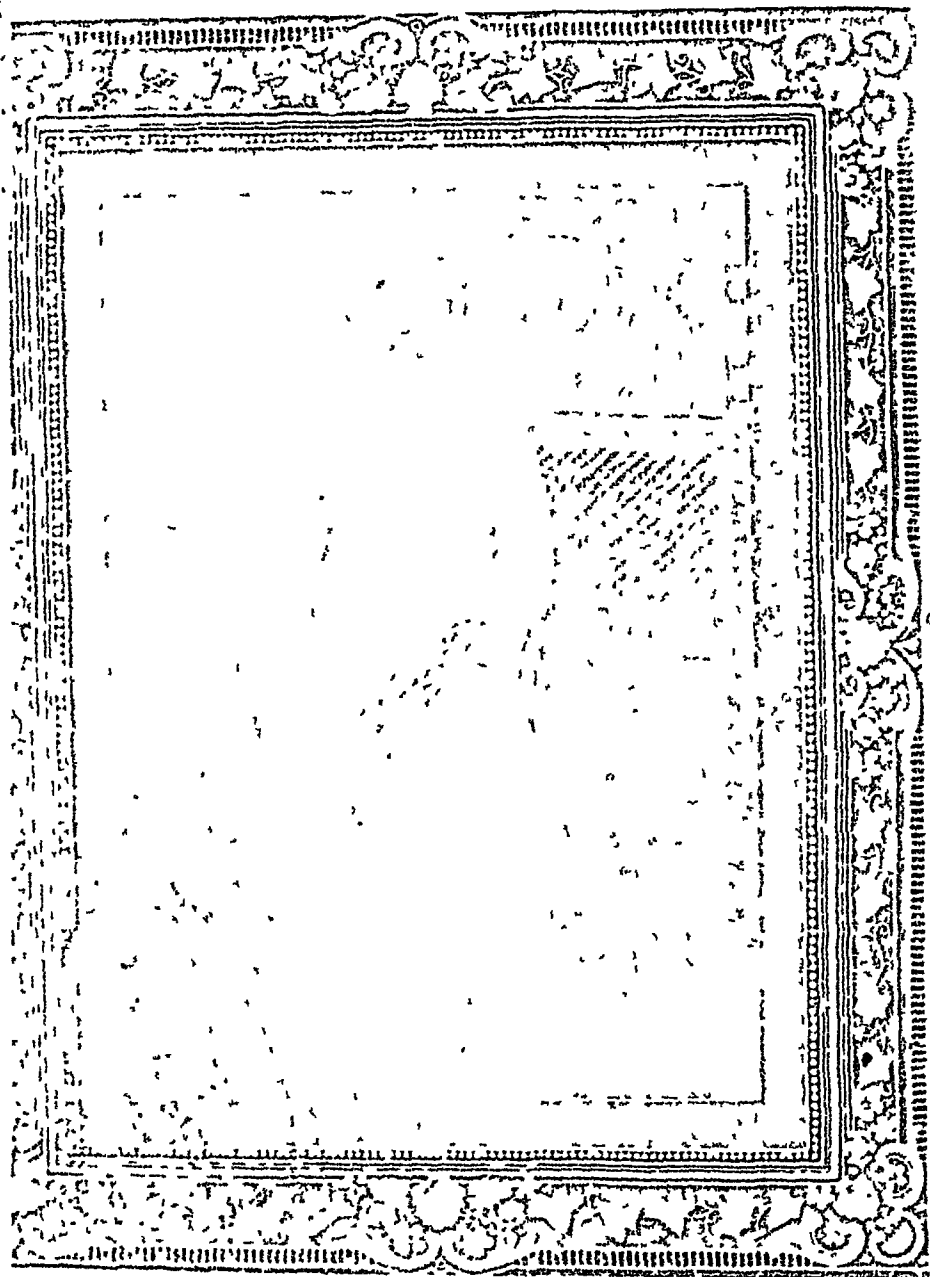
॥द्वि-जिन-केसुरी:

स्वर्गीय श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्दजी भरगड़ जौहरी, जयपुर सिटी।

जन्म संवत १९१४ माह सुदी ११. स्वर्गवास संवत १९८५ जेठ सुदी ८

श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द जी झरगड़ जौहरी का संक्षिप्त जीवन परिचय।

आप जयपुर में एक सुप्रसिद्ध जौहरी हैं। आपका जन्म विक्रम संवत् १९३५ भाद्रपद शुक्ला ११ शनिवार के दिन श्रीमाल ज्ञातीय श्रीमान् सेठ सुगनचन्द जी सौभाग्य चन्द जी झरगड़ के घर हुआ था। आप बाल्यावस्था से ही बड़े विनयवान्, माता पिता की आज्ञानुसार सर्वदा वर्त्ताव करने वाले, उदारहृदय वाले, हंसमुखे स्वभाव वाले और गम्भीर थे। माता पिता ने आपका शुभ विवाह ११ वर्ष की छोटी अवस्था में ही ओसवाल ज्ञातीय श्रीमान् सेठ नथमल जी बांठिया जयपुर वाले की श्रीमती सौभाग्यवती सुशीला पुत्री के साथ कर दिया था। बाद आपने व्यावहारिक शिक्षा अच्छी तरह प्राप्त करके जौहरी का व्यापार करने लगे। कुछ समय में अपनी कला-कौशलता से लाखों रुपये उपार्जित किये। इतना ही नहीं परन्तु आपके व्यापार की इतनी प्रसिद्धि हुई कि यूरोप आदि दूर २ के प्रदेशों में आपका व्यापार चलने लगा। देहली दरबार में सम्राट् पञ्चम ज्यॉर्ज के राज्याभिषेक के समय

खुद वायसराय महोदय ने आप के व्यापार से खुश होकर आप को सार्टीफिकेट दिया था।

आपका धार्मिक जीवन बड़ा प्रशंसनीय था। स्वधर्म में पूर्ण श्रद्धायुक्त होकर श्रावक के बारह व्रतों को पालते थे। बीस स्थानक व्रत का उद्यापन—अट्ठाई महोत्छव में एवं समस्त तीर्थयात्रा में आपने नीति से प्राप्त किये हुए हजारों रुपयों का सद्व्यय करके बड़ा पुण्य उपार्जन किया। आप दयालु एवं दानशील होने से अनाथ–दीन जनों को उचित दान करना नहीं भूलते थे। साथ अपने धर्म बन्धुओं की और साधु साध्वियों की सेवा-भक्ति भी प्रसन्न चित्त से करते थे।

पचास वर्ष की प्रौढावस्था में ही संवत् १९८५ ज्येष्ठ शुक्ला ८ को अकस्मात् साधारण व्याधि से आप इस असार संसार को छोड़ गये।

आपके स्मरणार्थ आपकी सुशिक्षिता सुशीला धर्म-पत्नी श्रीमती शिखरु बाई ने सद्व्यय करके समस्तजनों के लाभ के लिये यह ग्रंथ प्रकाशित करवाया है। यही स्वपतिभक्ति के साथ ज्ञान का लाभ लिया। इसलिये यह धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रकाशक.

विदित हो कि इस असार संसारसागर में गिरते हुए मनुष्यों के जीवन का उद्धार करने के लिये प्राचीन जैनाचार्यों ने संस्कृत प्राकृत एवं देशी भाषा में अनेक औपदेशिक ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से कितनेक अच्छे २ शिक्षाप्रद ग्रन्थ गुजराती भाषा में अनुवाद रूप से प्रकट हो चुके हैं। परन्तु ऐसे ग्रन्थों की हिन्दी भाषा में बहुत न्यूनता देखने में आती है। इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिये एवं समस्त जनों के लाभ के लिये जिस देशना से प्रथम जिनेश्वर श्री आदिनाथ स्वामी ने अपने ९८ कुमारों को प्रतिबोध किया था, ऐसी श्री युगादिजिन देशना का हिन्दी अनुवाद रूप आपके सामने रखती हूँ। और आशा करती हूँ कि इसको अच्छी तरह मन लगा कर पढ़ें और मेरे परिश्रम को सफल करें।

प्रस्तुतः ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दि में सहस्रावधानी श्री मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य श्री सोममण्डन गणि ने अन्दाज

२४०० श्लोक प्रमाण संस्कृत पद्यों में रचा है। इसको शान्ति से मनन पूर्वक बाँचने से मालूम होगा कि क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह आदि कषायों से तथा लक्ष्मी, स्त्री और राजऋद्धि आदि से कैसे २ परिणाम होते हैं। और इन को छोड़ने से आत्मोन्नति कैसे हो सकती है, इत्यादि अनेक दृष्टान्त पूर्वक समझाया गया है। इस के पाँच उल्लास हैं।

प्रथम उल्लास में भरत चक्रवर्त्ती ने अपने छोटे २ भाइयों को आज्ञा में रहने को कहा जिससे वे सब उद्विग्न होकर पिता आदिनाथ प्रभु के पास गये। वहाँ उन को प्रतिबोध देने के लिये प्रभु ने प्रथम क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से छुड़ाने के लिये एक कषाय वाले कुटुम्ब का सविस्तर दृष्टान्त दिया। अन्त में प्रभु के पुत्र ने प्रश्न किया कि ऐसे कषाय वाले होने पर भी स्वल्प समय में कैसे मुक्त हुए? इस प्रश्न के उत्तर में एक भव में अनेक भव करने वाली कामलक्ष्मी का एक सरस दृष्टान्त कहा गया है।

दूसरे उल्लास में मोह का त्याग बतलाने के लिये अभव्य, दूरभव्य, भव्य, आसन्नसिद्ध और तद्भवसिद्ध इन पाँच कुलपुत्रों का दृष्टान्त बहुत सुन्दर रीति से घटाया है,

तथा इन पाँच प्रकार के जीवों की प्रकृति भी बहुत स्पष्ट करके बतलाई है। उसके बाद अतिमोह के कारण दुःखी और निर्मोह के कारण सुखी होने पर सरस्वती, देवदिन्न और प्रियंगुसेठ का दृष्टान्त है। अन्त में कपट युक्त धर्मोपदेश करने से भी प्राणी दुःख पाता है, इस विषय पर धनश्री का दृष्टान्त अधिक विस्तार पूर्वक है।

तीसरे उल्लास में प्रथम लक्ष्मी का त्याग बतलाकर, उसको अत्यन्त प्रिय मानने वाले रत्नाकर सेठ का दृष्टान्त दिया गया है। उसके बाद लक्ष्मी का तिरस्कार करने वाले शुचीवोद्र, लक्ष्मी को पूजने वाले श्रीदेव, तिजूरी में बन्द कर रखने वाले संचयशील और उदारता से दान भोग आदि में खर्चने वाले भोगदेव, इनके दृष्टान्त बहुत मनन करने योग्य हैं।

चतुर्थ उल्लास में इन्द्रियों के विषयों की चपलता बतला कर तथा उनको त्याग करने का उपदेश देकर मुख्य स्पर्शेन्द्रिय के विषय के लोलुपी श्रेष्ठिपुत्र सुन्दर और सुन्दरी का बहुत असरकारक उदाहरण दिया है। उसके बाद स्त्री की अति चपलता के ऊपर पातालसुन्दरी का मनोहर दृष्टान्त दिया है। उसके अन्तर्गत अतिमोह वाला बहुधान्य और कुरङ्गी का दृष्टान्त दिया गया है। इसके प्रान्त

भाग में भगवान् ने ९८ पुत्रों को बहुत असरकारक उपदेश दिया है, जिससे वे ९८ पुत्र तुरन्त ही संसार को त्याग कर चारित्र ग्रहण करते हैं और कुछ समय में उनको केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

पाँचवें उल्लास में प्रसंगोपात भरत चक्रवर्त्ती को पश्चात्ताप होने से उनका प्रभु के पास जाना, मुनि को दान देने की उनकी प्रबल इच्छा, भगवन्त ने बतलाया हुआ अवग्रह का स्वरूप, भरत ने की हुई स्वधर्मीवात्सल्य की शुरूआत और उसका परिणाम इत्यादि वर्णन करने बाद भरत महाराजा बाहुबली के पास दूत को भेजते हैं, दूत का सन्देश, बाहुबली का उत्तर, दूत वापिस आकर भरत चक्री को कहा हुआ सन्देश, सुषेण सेनापति की सलाह युद्ध करने के लिये किया हुआ प्रयाण, बाहुबली का सामने आना, युद्ध की शुरूआत, देवों ने कियां हुआ प्रतिबोध, उन्होंने कहा हुआ पाँच प्रकार (दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध) का द्वन्द्व युद्ध, इन पाँच प्रकार के युद्ध में चक्रवर्त्ती भरत की हार, चक्री ने छोड़ा हुआ चक्ररत्न, उसका वापिस फिरना, चक्री को मारने के लिये बाहुबली ने उठाई हुई मुष्टि, उसी समय उत्पन्न हुए सद्विचार से उसी ही मुष्टि से किया हुआ केशलुंचन,

ग्रहण किया हुआ चारित्र, उत्पन्न हुआ मान, जिससे वहीं कायोत्सर्ग में स्थित रहना, वाद ब्राह्मी सुन्दरी के वचनों से प्रतिबोध पाकर, भगवान् की पर्षदा में जाने के लिये चरण उठाते ही उत्पन्न हुआ केवलज्ञान, भगवन्त के साथ १०८ महापुरुषों का समकाल निर्वाण, भरत चक्री को आरीसा भवन में उत्पन्न हुआ केवलज्ञान, वाद उसका और ब्राह्मी सुन्दरी का मोक्षगमन इत्यादि वर्णन के वाद अन्त में ग्रन्थकार प्रशस्ति देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

मैंने यह पुस्तक कई दिन पहले लिखी थी, किन्तु मेरा यह पहला प्रथम ही कार्य होने से भाषा में लालित्य न आ सका, एवं कई एक भाषा सम्बन्धी दोष भी रहे होंगे। इसलिये प्रकाशित करने में संकोच हो रहा था। परन्तु उत्साह देने वाले सज्जनों की प्रेरणा से प्रकाश में लाई गई। इसमें भाषा सम्बन्धी या प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गई हों उनको पाठकगण सुधार कर पढ़ें और मुझे उत्साहित करें कि आगे इसके सदृश दूसरे ग्रन्थ लिखने में समर्थ होऊँ।

मेरी आसन्न उपकारी श्रीमती पूज्यपादा विदुष्या गुरुणी जी महाराज श्री श्री १०८ श्री श्री सुवर्णश्रीजी

महाराज तथा श्रीमती पूज्यवर्य्या श्री हुलासश्री जी महाराज ने मुझे इस कार्य में बहुत उत्साहित किया है, इसलिये मैं इन दोनों का पूर्ण आभार मानती हूँ। साथ सुश्राविका श्रीमती शिखरबाई ने सद्व्यय करके इसको प्रकाशित करवाया, इसलिये इसको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकती।

जयपुर सिटी
सं० १९८६ वसंत पंचमी

साध्वी विनयश्री.

विषयानुक्रम ।

* ॐ श्री वीतरागाय नमः

श्रीसोममण्डनगणि विरचित

युगादिदेशना-भाषान्तर।

❀ प्रथम उल्लास ❀

तीसरे आरे के अन्त में युगलियों की धार्मिक और व्यावहारिक मर्यादा को व्यवस्थित करने वाले श्रीमान् आदिनाथ प्रभु भव्यजनों को कल्याण दें।

मैं (सोममण्डनगणि) अपनी और दूसरों की पुण्य प्राप्ति के लिये तथा पापों को नाश करने के लिये जिस देशना से अपने पुत्रों को प्रतिबोधित किये थे ऐसी श्री ऋषभदेव स्वामी की धर्मदेशना को कुछ कहता हूँ कि जिसके श्रवणमात्र से प्राणियों के करोड़ों जन्मों में किये हुए पाप नाश हो जाते हैं।

भगवान के गुणों से सुशोभित और मेरी कल्पना-कला से उत्पन्न हुई आनन्ददायक सरस्वती (वाणी) भी भव्य जनों को सेवनीय है ।

श्री नाभिकुमार (आदिनाथ), सरल और अज्ञ ऐसे युगलियों को व्यवहार मार्ग में तत्पर करते हुए, तीसरे आरे के अन्त में बहुत समय तक राज्य का पालन करते थे । एक दिन सत्य और भव्यजनों को हितकारक ऐसे मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये अपने सौ पुत्रों को बुलवा करके तथा उनको अपनी २ योग्यता के अनु-सार पृथक् २ राज्य का विभाग बाँट करके साधु हो गये और एक हज़ार वर्ष पर्यन्त तलवार की धार के जैसा महा-व्रत आचरण करके और दुष्कर तप तप के केवल ज्ञान प्राप्त किया ।

एक दिन छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी भरत महाराजा ने अपने (बाहुबलि सिवाय) सब छोटे भाइयों को अपनी सेवा करने के लिये अर्थात् अपने आधीन होने के लिये बुलवाया । वे अठानवें भाई अपने बड़े भाई के बुलवाने से इकट्ठे होकर खेदपूर्वक परस्पर इसप्रकार विचारकरने लगे—

"हमारे पिता ने हम को और भरत को राज्य बाँट दिया है फिर भरत की सेवा करने से वह अपने को

अधिक क्या दे सकेगा ? आयुष्य के अन्त समय मृत्यु को क्या रोक सकेगा ? देह को शोषण करने वाली जरा-राक्षसी (वृद्धावस्था) का वह निग्रह (दमन) करेगा ? वारम्वार दुःख देने वाले व्याधिरूप शिकारियों का वह नाश कर सकेगा ? या उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तृष्णा को क्या वह चूर्ण कर सकेगा ? इस प्रकार कुछ भी सेवा का फल देने में वह असमर्थ है तो मनुष्यपन सबको बराबर है इसलिये क्यों किसी की कोई सेवा करे ? जिसने जिसको राज्य दिया है वह उसको सेवने योग्य है ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है, किन्तु हम को पिता ने राज्य दिया है तो हम भरत की सेवा क्यों करें ? छः खण्ड भरतक्षेत्र के समस्त राजाओं की विजय से उसका मन उन्मत्त हो गया मालूम होता है, जिससे अपने को भी वह सेवक बनाना चाहता है। वह बड़ा भाई इतना भी नहीं जानता कि हम सब भी एक पिता के ही पुत्र हैं। फिर भी उसको इतनी खबर नहीं कि सब बिल में गोह नहीं होतीं किन्तु कहीं बड़े फण वाले सांप भी होते हैं। इतने पर भी 'मैं उनका स्वामी और ये मेरे सेवक' इस विचार से वह यदि पीछे न हटेगा तो हम सब रण संग्राम में इकट्ठे होकर लीला मात्र में ही उसको जीत करके छःखण्ड के विजय से प्राप्त किये हुए राज्य को ग्रहण करेंगे। किंतु

(पिता को पूछे बिना) युद्ध करेंगे तो अरे ! तुम दुर्विनीत होकर बड़े भाई के साथ लड़े, इस प्रकार पिताजी हम पर क्रोधित होंगे, इसलिये प्रथम अपने सब पिताजी के पास जाकर पूछें, पीछे जैसी उन की आज्ञा होगी उस प्रकार करेंगे।"

इस प्रकार विचार करके वे अट्ठानवें राजकुमार अपने पिता श्री ऋषभदेव को पूछने के लिये अष्टापद पर्वत पर गये। वहाँ प्रभु को प्रदक्षिणा देकर, वन्दन और स्तुति करके देवता और मनुष्यों की पर्षदा में योग्य स्थान पर बैठे। उस समय अपने पुत्रों के मोह को दूर करने के लिये और भव्य जीवों के बोध के लिये भगवान् ने इस प्रकार पवित्र धर्मदेशना देना प्रारंभ किया—

हे भव्यजनो ! दुःख से पाने लायक और सर्वाङ्ग सुन्दर ऐसा मनुष्य जन्म पा करके, अपने आत्मसुख के अभिलाषी जनों को सब प्रकार से धर्मकार्य में प्रयत्न करना श्रेय है, इसमें भी पापबन्धन के हेतुभूत, सुख और लक्ष्मी को रोकने वाले तथा बारह प्रकार के तप को निष्फल करने वाले ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का सज्जनों को त्याग करना चाहिये। जैसे विष-मिश्रित अच्छा भोजन भी आदर नहीं पाता वैसे कषायों से

कलुषित मनुष्य गुणवान् हो तो भी प्रतिष्ठापात्र नहीं होता। जैसे जंगल में लगा हुआ दावानल वृक्षों को तुरन्त जला देता है, वैसे कषाय के वशीभूत मनुष्य अपने पूर्व जन्म में प्राप्त किये हुए तप को तत्काल क्षय कर देता है। जैसे कृष्ण वर्ण वाले वस्त्र में लाल रंग नहीं लगता, वैसे कषाय से कलुषित हुए मनुष्यों के चित्त में धर्म को स्थान नहीं मिलता। जैसे चांडाल को स्पर्श करने वाला सुवर्ण जल से भी शुद्ध नहीं हो सकता, वैसे कषाय युक्त प्राणी तप से भी पवित्र नहीं हो सकता। एक दिन का ज्वर (बुखार) तो शरीर के छः मास का तेज हर लेता है, किन्तु क्रोध तो एक क्षण वार में क्रोड़ पूर्व पर्यंत इकट्ठे किये हुए तप को नष्ट कर देता है। सन्निपातिक ज्वर की तरह क्रोध से व्याकुल हुआ मनुष्य कृत्याकृत्य का विवेक भूल जाता है और विद्वान् होने पर भी जड़ जैसा हो जाता है। बहुत उत्कृष्ट तप से देवता भी जिनकी सेवा करते थे ऐसे करट और उत्करट नाम के मुनि क्रोध के उदय से नरकगामी हुए। विवेक रूप नेत्र का नाश हो जाने से आत्मा को मान रूप अन्धकार नरक में गिरा देता है। प्राणियों को मोक्ष तक ले जाने में समर्थ ऐसे परमात्मा महावीर को भी कुल गोत्र के अभिमान से नीच गोत्र में अवतार लेना पड़ा, कहा है कि—

"जातिलाभकुलैश्वर्य-बलरूपतपःश्रुतेः ।
कुर्वन्मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥१॥"

"जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और श्रुत (ज्ञान) ये आठ प्रकार के मदों में से प्राणी जिस २ वस्तु का मद करे उस २ वस्तु की हीनता को पाता है"

दोष रूप अन्धकार का विस्तार करने में रात्रि के समान, असत्य की खान रूप, पाप को उत्पन्न करने वाली और दुर्गति को देने वाली ऐसी माया सब सज्जनों को त्याग करने योग्य है। पूर्व जन्म में बहुत कठिन तप किया था किन्तु उसमें माया का मिश्रण होने से भवसागर को पार करने वाले मल्लिनाथ तीर्थंकर को भी स्त्री का अवतार लेना पड़ा। सर्व सद्गुण रूप वृक्षों को भस्मीभूत करने में अग्नि समान, दोषों की खान रूप और कलह का तो मानो क्रीड़ा स्थान हो ऐसा लोभ प्राणियों को निश्चय दुःख सागर में डालता है। दूसरे भरत क्षेत्र के ऐश्वर्य के लोभ से सुभूम चक्रवर्त्ती लवण समुद्र को तैरने के समय साम्राज्य और जीवित से भ्रष्ट हुआ अर्थात् मरण पाया। इस प्रकार जब एक २ कषाय का सेवन करने से भी प्राणी महा कष्ट को पाता है फिर यदि चारों का एक साथ ही सेवन करने में आवे तो उसकी क्या दशा

होगी ? इन चार कषायों को त्याग करने वाला मनुष्य सचमुच सब मनुष्यों में प्रतिष्ठापात्र होता है इतना ही नहीं परन्तु देवताओं में भी इन्द्र रूप होता है।

इस प्रकार भगवान् के मुख से कषायों का वर्णन सुन कर कुणाल नाम के पुत्र ने प्रभु को पूछा—

"हे तात ! हमारे अन्तःकरण इन चार कषायों से कलुषित हैं, तो हे भगवन् ! हम लोगों को धर्म की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? 'भरत हमको सेवकों की तरह क्यों हुक्म करता है ?" इस हेतु से क्रोध से आकुल हुए हम सब बड़े भाई भरत को मारने की इच्छा करते हैं, (यह बहुत खेद की बात है)। ऐश्वर्य और भुजा के अतुल बल के अभिमान से हम मदोन्मत्त हुए हैं, जिससे हे तात ! हमारी ग्रीवाएं बड़े भाई को भी नमन नहीं करना चाहतीं। छः खण्ड पृथ्वी को विजय करने से उन्मत्त हुए भरत को माया रचना से अर्थात् छल कपट से जीतने की हम इच्छा करते हैं और निरन्तर अनेक प्रकार की कपट रचना का विचार भी करते हैं। हे तात ! तीव्र लोभ के उदय से छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी ऐसे बड़े भाई को भी शीघ्र ही जीत कर उस की राज्यलक्ष्मी को आधीन करने की हम आशा रखते हैं। हे नाथ ! इन चारों ही तीव्र कषायों से हमारे

अन्तःकरण कलुषित हुए हैं तो हे प्रभो! हमारा क्या होगा? अहो! हमारी क्या गति होगी?"

इस प्रकार मुमुक्षित भाव से भरे हुए अपने पुत्रों के वचन सुन कर फिर भगवान इस प्रकार धर्मोपदेश देने लगे—

हे वत्सो! ये चारों ही कषाय महान् कटुक फल को देने वाले हैं, इसलिये अपने आत्मा के हित को चाहने वाले पुरुषों को उनका त्याग करना चाहिये। हे पुत्रो! इस विषय पर संसार से वैराग्य होने का कारण भूत ऐसा कषाय युक्त कुटुम्ब का दृष्टान्त मैं कहता हूँ उसको साव-धान होकर सुनो—

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अपनी अपरिमित समृद्धि से अमरावती के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाला विजयवर्द्धन नाम का नगर था। वहाँ अच्छी प्रतिष्ठावाला सद्गुणों का पात्र और लक्ष्मी का आश्रय रूप रुद्रदेव नाम का सेठ रहता था। जैसे निम्ब तीन दोषों को नाश करने वाला है परन्तु अपने कटुकपन के दोष से वह दूषित है, वैसे सेठ गुणवान होने पर भी क्रोध के दोष से दूषित था। पति पर प्रेम रखने वाली और गुणवती होने पर भी क्रोध के दोष से युक्त अग्नि की शिखा जैसी अग्नि-

शिखा नाम की रूपवती उसकी स्त्री थी। प्रसंग या अप्र-संग में कोप को प्रकट करके वे दोनों पति पत्नी स्नेहालाप या हास्यादि भी परस्पर कभी करते नहीं थे। अपने तीन पुत्रों के विवाह यौवनावस्था में क्रमशः शिला, निकृति और संचया नाम की तीन वणिक् पुत्रियों के साथ हुआ था, प्रबल उदय वाले क्रोधादिक चार कषाय भी मानों विभक्त होकर रहे हों वैसे चारों ही दंपती (पति पत्नी) के अन्तःकरण में प्रत्येक ने स्थान ले रक्खा था।

रुद्रदेव और अग्निशिखा क्रोध से अपना मुख टेढ़ा करके पुत्रादिक के विषे कभी भी शीतलता को पाते नहीं थे, अपनी स्त्री सहित डूंगर (प्रथमपुत्र) भी जैसे नरमाई को छोड़ दी हो और कठिनता को धारण करली हो वैसे ही माननीय पुरुषों को भी अहंकार के दोष से कभी नमता नहीं था। माया (कपट) से अपने संबंधियों को ठगने की बुद्धि वाले कुडंग (दूसरा पुत्र) और निकृति भी कहीं विश्वासपात्र नहीं होते थे। समुद्र की तरह दुःख से पूर्ण करने लायक संचयायुक्त सागर (तीसरा पुत्र) भी समस्त जगत् के धन को लोभ से अपने आधीन करने को चाहता था। इस प्रकार तीव्र कषायों के उदय से, जैसे भयंकर व्याधियों से शरीर कष्ट पाता है, वैसे यह कुटुम्ब भी कष्ट पाने लगा।

एक समय रुद्रदेव ने अग्नि शिखा को कहा कि "हे कान्ते! यौवनावस्था योगियों को भी विकार के कारण-भूत हो जाती है। कहा है कि—

"यौवने विकरोत्येव मनः संयमिनामपि।
राजमार्गेऽपि रोहन्ति प्रावृट्काले किलांकुराः।'

'जैसे वर्षा ऋतु में राजमार्ग पर भी घास उग जाती है वैसे यौवनावस्था में संयमी पुरुषों के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाता है।'

इसलिये विकार की अधिकता से अपनी स्त्रियों के लालित्य के वशीभूत होकर अब भी विनय हीन तेरे पुत्र तेरा कहना नहीं मानते स्वतंत्र होकर रहते हैं और तेरी पुत्रवधुएँ भी यौवन से उन्मत्त होकर अपने आपको अधिक मानती हैं, परन्तु भक्ति से तेरा बहुमान नहीं रखतीं। छद्मस्थ जीव आयुष्य का प्रमाण अच्छी तरह नहीं जान सकता, कारण कि कोई प्राणी जन्म होते ही मर जाता है और कोई बहुत काल तक जीवित रहता है। हे प्रिये! वृद्धावस्था बहुत दुःख से भोगनी पड़ती है, उस समय धनवानों को भी सब प्रकार से पराधीन होना पड़ता है तो निर्धन मनुष्यों के लिये कहना ही क्या? "इसलिये वृद्धावस्था में तेरी आज्ञा को पूरी करने के लिये मैं आज तुझे

एक हज़ार सोना मोहर देता हूँ, उसको एकान्त में कहीं छुपा कर रखना और हे प्रिये ! यह बात तेरी पुत्र वधुओं को भी नहीं कहनी" इस बात को निकृति ने दीवाल की ओर रह कर सुनली।

एक दिन फिर सेठ ने अपनी स्त्री को कहा—"हे वल्लभे ! यह दो हज़ार सोना मोहर मैं भूमि में गाड़ देता हूँ उसको देख, कभी विशूचिका, अग्नि, शूल, पाणी, सर्प या विष आदि से मेरा अकस्मात् मरण हो जाय तो हे प्रिये ! परलोकवासी हुआ ऐसा मेरे पीछे मेरे नाम से इनका सद्व्यय करके मुझे पुण्य रूप भाता देना। हे कान्ते ! मेरे पुत्रों का तिरस्कार करके यह नहीं कहने लायक भी विश्वास से तुझे कहा है। कारण कि पति के सुख दुःख में स्त्री समभागिनी होती है।" इस प्रकार रुद्रदेव ने अपनी स्त्री को एकान्त में कहा तो भी मायावी कुडंग ने दीवाल की ओर रह कर सब सुन लिया।

एक समय लुब्ध ऐसी निकृति और संचया ने विचार किया कि—'सासु को किसी प्रकार खुश करके ससुर का गुप्त रूप से दिया हुआ धन अपन ले लेवे तो अच्छा।' इस प्रकार आपस में सलाह करके और कपट से आँखों में आँसू ला करके वे दोनों सासु को कहने लगीं कि—'हे मात ! अभिमान से तुम्हारी बड़ी बहू शिला की गर्दन

तो ऊँची ही रहती है, वह स्नान मर्दन आदि से तुम्हारा सत्कार कभी भी नहीं करती। हे अंबा! यौवन के मद से अभी तक तुम्हारा स्नानादिक सत्कार हमारे से भी बन सका नहीं, अब तो हम हमारी पश्चात्ताप रूप अग्नि को आपके सत्कार रूप जल से बुझाने की इच्छा करती हैं।' इस प्रकार प्रपंचित वचनों से स्नान मर्दन पूर्वक सत्कार करके निकृति ने उसको भोजन करवाया। दूसरे दिन ऐसे ही आदरपूर्वक बहुत घी वाला पकवान जिमा कर संचया ने भी उसको बहुत खुश किया। इस प्रकार प्रतिदिन निकृति और संचया अधिकाधिक सासू की भक्ति करने लगीं।

इस प्रकार कृत्रिम विनय को सत्य मानती हुई अग्निशिखा अत्यन्त प्रसन्न होकर सरल हृदय से विचार करने लगी कि—'कोई बहू तो सौत की तरह सासू के छिद्र देखा करती है और सासू तथा ननद आदि के साथ बारंबार कलह किया करती है। कोई बहू तो सासरे में आते ही न्यूनाधिक बोलने वाली हो जाती है और स्वतंत्र होकर अपने पति को खुश करके माता पिता से उसको अलग करवाती है। सासू, पति और ननद आदि के ऊपर प्रेम रखने वाली और विनयवती तथा प्रत्यक्ष लक्ष्मी के समान ऐसी पुत्रवधू तो कहीं ही होती है। परन्तु मेरा

पूर्वकृत पुण्य से सेवा में तत्पर, कुलीन और शील संपन्न ऐसी ये पुत्रवधुएँ मुझे मिली हैं। ऐसे भी कहा है कि स्त्रियों के सद्भाग्य से पुत्र के पीछे उत्पन्न हुई पुत्री हृदय और नेत्र को आनन्द देने वाली तथा विश्वास की पात्र होती है। ऐसी पुत्री तो मुझे प्राप्त न हुई परन्तु दैवयोग से वधू रूप में यह निकृति और संचया मुझे पुत्री समान प्राप्त हुई हैं। यदि ये दोनों पुत्रवधू जीवन पर्यन्त मेरी सेवा करेंगी तो पीछे आशा की विश्रान्ति के लिये रखे हुए धन की मुझे क्या परवाह है? ये दोनों वहू मेरी वहुत भक्ति करती हैं इसलिये इनसे कुछ भी छिपा नहीं रखना चाहिये। अब मेरा गुप्तधन का स्थान है वह उन को वतला दूँ! कभी अकस्मात् मेरा मरण हो जाय तो भी उनकी भक्ति के वदले उनको धन अर्पण करने में मैं ऋणमुक्त होऊँगी। सब कार्य में भद्रा (विष्टि तिथि) की तरह बड़ी शिला वहू तो वहुत गर्विष्ठ है, इसलिये मैंने उसका प्रथम से ही त्याग किया है तो उसको धन क्यों देना?" इस प्रकार विचार करके अग्निशिखा ने गुप्त धन का स्थान दोनों छोटी वहुओं को वतला दिया और कहा कि—'मैं जव मरण पा जाऊँ तव यह वाँट लेना' वहुओं ने कहा कि—'हे मात! आप वहुत काल तक जीवित रहो, हमको धन की क्या आवश्यकता है? आप तो हमारे धन ही

है ? इस प्रकार बहुओं ने अपनी निःस्पृहता का दम्भ दिख-लाया। कहा है कि—

'व्रतदंभः श्रुतदंभः स्नातकदंभः समाधिदंभश्च ।
निःस्पृहदम्भस्य तुलां व्रजन्ति नैते शतांशेन ॥'

'व्रतदंभ, श्रुतदंभ, स्नातकदंभ और समाधिदंभ ये चारों ही दंभ निःस्पृहदंभ के सौवाँ भाग के तुल्य नहीं आ सकते।'

एक दिन मध्यरात्रि के समय सासू को ठग करके, लोभ से उस धन को गुप्त स्थान से निकाल करके कोई दूसरे ठिकाने भूमि में गाड़ दिया। अब अपना स्वार्थ सिद्ध करने के बाद बहुओं ने दिन के पूर्व भाग की छाया की तरह सासू के ऊपर का भक्ति भाव धीरे २ कम करने लगीं। प्रथम का सत्कार और पीछे का तिरस्कार देख कर के अग्निशिखा मन में आश्चर्य पाकर अपना गुप्तधन देखने लगी। जब धन उसको देखने में न आया तब वह विचार करने लगी कि—'निश्चय ही उन्होंने कपट प्रपंच रच करके मेरा धन चोर लिया है, कारण कि यह स्थान उनके सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता। एक दिन मन में ईर्ष्या लाकर उनको पूछने लगी—'हे पुत्रवधु! तुमने वह धन लिया है? या कुछ जानती हो?' बहुएँ बोलने

लगीं—"हे मात! यदि हम उस धन की बात जानती हों तो देव और सद्गुरु के चरणों को स्पर्श करें, या तो सब तीर्थ से अधिक ऐसे आपके चरणों को छुएँ, हे मात! महा कलंक में भी कुलवान की शुद्धि सौगन्द से ही होती है, कारण कि चाहे जैसा बड़ा संकट शिर पर आ जाय और अन्त में प्राण का नाश भी हो जाय तो भी कुलीन स्त्रियाँ सौगन्द को मिथ्या नहीं करतीं अर्थात् झूठा सौगन्द नहीं खातीं। इतने सौगन्द खाते हुए भी हमारे पर विश्वास न आता हो तो आपके कहे अनुसार शुद्धि के लिये दिव्य (शपथ) करने को तैयार हैं। हे अंबा! बालावस्था से हमारे माता पिता ने आपके गोद में हमको रखी हैं इसलिये हमारे माता पिता गुरु बन्धु और सासू भी आप ही हैं। इतने पर भी निर्दोष ऐसी हम पर आप दोष देंगी तो बड़ी खेद की बात है कि जिसका हमने शरण लिया उससे ही हमको भय प्राप्त हुआ ऐसा मालूम होगा" बहुओं की इस प्रकार की वचन चातुरी से 'मेरा धन उन्होंने अवश्य लिया है' ऐसा निश्चय करके उन पर मन में क्रोध लाकर अग्निशिखा ने अभी तो मौन धारण किया।

इस तरफ रुद्रदेव ने अपना अंतःकाल समय में अच्छे ठिकाने खर्च करने के लिये अपनी स्त्री के समक्ष एकान्त में जो धन पृथ्वी में गाड़ा था, उस बात को कडंग ने

सागर को मालूम की। पहरे वाले और चोर की जैसे लोभी और कपटी मनुष्य हमेशा मिलते रहते हैं। पिता को किसी प्रकार प्रसन्न करके उसने गुप्त रखा हुआ धन को अपने ले लेवे! इस प्रकार लोभ से उन दोनों ने विचार किया। उसके बाद वे कपट से विनय बतला कर पिता को कहने लगे कि—'हे तात! हम तीनों ही आपके पुत्र हैं, आपने हमको बाल्यपन से ही पालन पोषण करके बड़े किये हैं परंतु अफ़सोस है कि हमारे में से किसी ने आपकी वृद्ध होने पर भी सेवा नहीं की। 'बहुत घर का पाहुना भूखे मरे' यह लोकोक्ति यथार्थ है। हे तात! अब आपकी सेवा किये बिना जो दिन जाता है वह हमको बड़ा कष्टकारी होता है, इसलिये आज से जंगम तीर्थ रूप आपकी सेवा करने की इच्छा रखते हैं।' ऐसा कह कर प्रथम दिवस कुडंग ने स्नान भोजनादिक से सत्कार किया, दूसरे दिन सागर ने भी स्नेहालाप पूर्वक अच्छे खान पानादि सत्कार से उसके मन को खुश किया। इस प्रकार सत्कार करते २ कितनेक दिन व्यतीत होने बाद पिता उन पर बहुत प्रसन्न होकर इस प्रकार विचार करने लगा—'अन्त समय में अच्छे स्थान पर खर्च करने के लिये मैंने जो द्रव्य भूमि में रखा है, उसको अच्छे ठिकाने स्थापन करना यही पुण्य खर्च कहा जाता है। ऐसा अच्छा ठिकाना तो यहाँ माता पिता

की सेवा करने वाले पुत्र को ही कह सकते हैं। कुडंग और सागर माता पिता की बहुत भक्ति करने वाले हैं, इसलिये मैंने जो धन भूमि में रखा है, वह उनको बतलाऊं, जिससे उस धन का भविष्य में सन्मार्ग में खर्च होगा और मैं भी उनका ऋणी न होऊंगा'। इस प्रकार विचार करके उसने अपने दोनों पुत्रों को भूमि में गढ़ा हुआ धन बतला कर कहने लगा—'हे वत्सो! मेरे मरण के बाद ये दो हज़ार सोना मोहर जितना यह धन तुम ले लेना। डूंगर तो जन्म से ही अविनीत होने से वह मुझको प्रिय नहीं है इसलिये यह धन तुमको ही देता हूँ, इस धन में से उसको कुछ भी भाग नहीं देना'। पुत्र कहने लगे—'हे तात! आप बहुत काल तक आनन्द में रहें, हमारे उस धन का क्या प्रयोजन है? कारण कि आप हमारे पर छत्र की तरह रह कर आपत्ति रूप ताप को दूर करते रहें हम ऐसी इच्छा करते हैं'। कहा है कि—

'यत्र तत्रापि सुलभं धनं लाभोदये नृणाम्।
हितान्वेषी पुनस्तातः पत्नेऽपि न लभ्यते॥'

'जब लाभ का उदय हो तब धन तो मनुष्यों को जहां तहां से भी मिलना सुलभ हो जाता है, परन्तु पुत्र

के हित को चाहने-वाले पिता बड़े शहर में भी नहीं मिल सकता।'

इस प्रकार कपट वचनों से सरल मन वाले पिता को विश्वास देकर लोभ से उस धन को उन्होंने दूसरे ठिकाने एकान्त में रख दिया। उसके बाद उन्होंने पिता का विनयोपचार कम कर दिया, कारण कि कृत्रिम प्रेम पतंग के रंग की जैसे अधिक समय नहीं ठहर सकता। जब उनका विनय कम होगया तब रुद्रदेव को मन में शंका उत्पन्न हुई और पुत्रों को कहे हुए धन के स्थान को एकान्त में देखने लगा। संतति बिना की सुपत्नी की जैसे वह स्थान द्रव्य से शून्य देखकर छींका से भ्रष्ट हुई बिल्ली की तरह वह लज्जित होगया। 'इन पुत्रों के सिवाय धन का स्थान दूसरा कोई नहीं जानता, इसलिये निश्चय इन कपटी पुत्रों ने मेरा धन हर लिया है।' इस प्रकार विचार करके सेठ पुत्रों को पूछने लगे—'हे पुत्रो! वह धन कहां गया?' उन्होंने कहा हे तात! हम उस धन संबंधी कोई भी बात जानते हों तो आपके या जन्म देने वाली माता के चरणों को स्पर्श करें, या आप कहो तो तपी हुई कौड़िएँ उठा लें! जब पिता के मन में ही हमारे पर अविश्वास उत्पन्न हुआ तो निश्चय हमारे पूर्वकृत दुष्कर्मों का उदय हुआ मालूम होता है। हे तात! जब आपको ही हमारे

पर विश्वास नहीं है तो दूसरों को कैसे हो सके ? लोक में भी कहा है कि 'जो अपने घर में हलका पड़ता है वह बाहर तो पवन से भी अधिक हलका पड़ता है।' अपने धन की स्थिति जानने की प्रबल इच्छा थी तो भी कुटिलता युक्त चातुर्यता से और युक्ति प्रयुक्ति से पुत्रों ने बोलने को तैयार होते ही उसको रोक दिया।

उसके बाद वह इष्टिका पाक की तरह क्रोध से अंतःकरण में अतिशय जलता हुआ किसी के साथ भी स्नेह से बात नहीं करता था। इस प्रकार कलुषित मन वाले सेठ का कितनाक काल व्यतीत हुआ।

एक दिन सेठानी ने अपना धन गुम होने की बात सेठ को कही। यह सुन कर सेठ बहुत दुःखी हुआ और मन में क्रोध लाकर स्त्री को कहने लगा—'हे पापिनि ! बहुओं को यह बात क्यों कहीं ?' सेठ का क्रोध से भरे हुए भाषण को सुन कर अग्निशिखा भी क्रोधपूर्वक बोली—'मूर्ख ! पापी तो तूं आप ही है कि अपने पुत्रों को अपना गुप्त धन की बात कह कर सब गमाया।' जैसे अग्नि में घी होमने से वह अधिक प्रज्वलित होती है वैसे सेठानी के जलते हुए वाक्यों से रुद्रदेव नख से चोटी तक जल उठा। वह अपना उभरना खाली करने के लिये बोला—'हे

पापिनि ! तूं पति के सामने कोप करके जैसे तैसे बकती है इसलिये तूं कुलांगना ही नहीं।' पति के ऐसे वचनों से लकड़ी से दबी हुई नागिन की तरह वह क्रोध से बहुत लाल नेत्र करके कहने लगी कि—'जबसे मैं तुम्हारे पल्ले पड़ी हूँ तब से ही मेरा कुल नाश होगया है।' इस प्रकार एक दूसरे आपस में क्रोध से बोलते २ कलह बहुत बढ़ गया, इतने में क्रोध से अग्निशिखा को लकड़ी से सख्त प्रहार किया, जिससे भवितव्यता के योग से, वह प्रहार मर्म स्थान में लगने से मानो रुद्रदेव से भय पाकर तत्काल ही अग्निशिखा का प्राण चला गया।

रौद्र ध्यान से मरण पाकर वह अपने घर में ही लाल नेत्र वाली, तीव्र विष वाली और काले वर्ण वाली नागिन हुई। घर में इधर उधर भ्रमण करती २ वह निधान को देख कर हर्षित हुई और लोभ से उसके ऊपर बैठकर वहां निरन्तर सुख से रहने लगी। अब एक दिन संचया को ठग कर निकृति उस धन को लेने गई, इतने में पूर्व के वैर से उस सर्पिणी ने उसको काट खाया, जिससे तुरत ही वह मर गई और आर्त्तध्यान के योग से वह भी घर में नकुली हुई। लोभ के कारण उस धन के लिये उन नागिन और नकुली का कलह होने लगा। 'अब तो सब धन

मुझे ही मिलेगा' ऐसा विचार से संचया भी खुश होती हुई कुछ कारण विशेष उस धन के पास गई, इतने में दुष्ट नागिन ने उसको भी डसी, जिससे वह तत्काल मर गई और लोभ के उदय से वह भी अपने घर में कुत्ती पन से अवतरी। उसको बहुत मारने पर भी मोह के प्रभाव से घर का आंगन कभी नहीं छोड़ती। धन में लुब्ध होकर सागर ने भी कुडंग को विष देकर मार डाला, वह भी मर कर घर के भीतर ही काल के जैसा भयंकर सर्प हुआ, वह अपना धन देख कर लोभ से वहां निरन्तर रहने लगा। एक दिन सागर जब धन लेने गया तब पूर्व वैर से उसको डंक मारा, जिससे वह तुरत ही मर कर उस धन के पास नकुल (नेवला) हुआ, धन के लोभ से निरन्तर वे दोनों भी आपस में लड़ने लगे।

एक दिन सेठ दुकान से घर आया तब डूंगर को अपने पाँव पर पाँव चढ़ा कर बैठा हुआ देखा। सेठ ने कुछ काम बतलाया परन्तु उसने कुछ भी उत्तर न दिया, कारण कि अभिमान से उसकी गर्दन ऊँची ही रहती थी और अपने को वह सर्वोत्कृष्ट मानता था। अपनी अवज्ञा से और पुत्र के अविनय से रुद्रदेव कोप से जलता हुआ डूंगर को कहने लगा—'हे मूढ़! तेरे दूसरे गुण तो दूर रहे किन्तु कमाई करके खाना भी नहीं आता, अपने मन में झूठा

अभिमान धारण करते तुझे शरम नहीं होती ?" कहा है कि—

'स्वचित्तकल्पितो गर्व उपहासाय जायते ।
उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादौ शेते भङ्गभयाद्भुवः ॥'

'जैसे टिटिहरी (आकाश गिरने से) पृथ्वी टूट जाने के भय से अपने दोनों पैर ऊँचा करके सोती है वैसे अपने मन में झूठा अभिमान रखने वाला मनुष्य हँसी का पात्र होता है ।'

इस प्रकार के तिरस्कार वचनों से डूंगर क्रोध लाकर बहुत जलने लगा और पिता के सामने ऊँच नीच वचन बोलने लगा । क्रोध और मान के योग से आपस में बोलते हुए उन्हों का विवेक नष्ट हो गया और दोनों पिता पुत्र अत्यन्त कलह करने लगे । उस समय नागिन और नकुली तथा सर्प और नेवला क्रोध से कलह करते २ बिल में से निकल कर आँगन में बाहर आये । शिला भी कुछ कार्य के लिये निधान के पास गई, वहाँ रही हुई कुत्ती ने उसको काटा, जिससे वह भी रुदन करती हुई आँगन के आगे आ गिरी । शिला के किये हुए प्रहार से उस कुत्ती का प्राण कण्ठ में आ रहा, जिससे वह भी कर्णकटुक शब्द करती हुई आँगन के आगे आ गिरी । अहो! आश्चर्य ! २

ऐसे विस्मय पाते हुए बहुत से लोग वहाँ देखने के लिये इकट्ठे हो गये। इनमें से कितने ही लोग आश्चर्य करने लगे, कितने ही हँसने लगे, कितने ही मध्यस्थ रहे और कितने ही वैराग्य पा गये।

उस समय कोई ज्ञानवान् मुनि गौचरी के लिये घूमते घूमते सेठ के पुण्योदय से वहाँ भिक्षा लेने आये। अपने ज्ञान से श्रेष्ठि-कुटुम्ब का वृत्तान्त यथार्थ जानते हुए मुनि 'अहा! यह कषाय का परिणाम है' ऐसा कह कर वहाँ से तुरत ही बाहर निकले। सेठ उसके वचन को सुनकर मुनि के समीप जाकर अपने कलह में व्यग्र होते हुए भी उक्त वचन का भावार्थ पूछने लगा। मुनि कहने लगा—"हे भद्र! सुन, यह तेरे घर में अति विषम ऐसा कषाय-रूप वृक्ष का पुष्प खिला हुआ है। वह सुज्ञ मनुष्यों को वैराग्य का कारण और मूर्ख जनों को हास्य का कारण हो गया है। ये सर्प और नकुल हैं वे तेरे कुडङ्ग और सागर नाम के पुत्र हैं, यह नागिन तेरी स्त्री है और यह नकुली वह निकृति है, तथा यह कुत्ती वह संचया है। निश्चय से इन कषायों ने तेरे कुटुम्ब को नटपेटक (नटों) की तरह अनेक प्रकार के रूप दिखलाये हैं।" इस प्रकार सेठ के आगे मुनि ने जब पूर्वभव का वृत्तान्त कहा, तब उस को सुनकर सर्पादि पाँचों ही जीवों को जाति स्मरण ज्ञान हो

गया, जिससे शीघ्र ही वे मुनि के पास अनशन ग्रहण करके, आपस के वैरभाव को शान्त करके और पश्चात्ताप से दुष्कर्म का नाश करके स्वर्ग में गये। रुद्रदेव और डूंगर ने भी (वैराग्य पाकर) श्रुतसागरसूरि के पास दीक्षा स्वीकार की।

रुद्रदेव मुनि किसी किसी समय साधु समाचारी में आलस्य करते और जब प्रवर्त्तक मुनि उसको प्रेरणा करते तब पहले के अभ्यास से वह क्रोध के आवेश में आ जाते थे। डूंगर ऋषि भी दुष्कर तप करते हुए भी पूर्व के स्वभाव से अपने से अधिक दीक्षा पर्याय वाले रत्नाधिक मुनियों को नमते नहीं थे। प्रवर्त्तक मुनियों ने शास्त्रगर्भित वाणी से उनको बहुत समझाया, किन्तु क्रोध और मान की अधिकता से वे उनके साथ भी कलह करने लगे। निरन्तर उनके कलह से सब साधु आकुल-व्याकुल हो कर अपने गुरु महाराज को प्रेरणा की, जिससे गुरु ने उन दोनों को अपने गच्छ से बाहर किये। वहाँ से वे दोनों दूसरे गच्छ में गये। वहाँ भी अपने स्वाभाविक दोष के कारण कीट से व्याकुल ऐसे कुत्ता की तरह वे गच्छ के बाहर हुए। सब समुदाय से भी जब वे भ्रष्ट हुए तब उन को स्थिरता मिलने का कोई भी स्थान न मिला, इसलिये गच्छ का त्याग करके वे शिथिलाचारी हो गये। सर्व सूत्र और

अर्थ रूप पौरुपी को भी वे यथार्थ पालन नहीं करते थे और तीन गुप्ति और पाँच समिति का भी वे अच्छी तरह आराधन करते नहीं थे। इस प्रकार साधुओं की सब प्रकार की धर्मकरणी में वे प्रमादी हो गये।

एक दिन अग्निशिखा का जीव जो देव हुआ है उसने अपने पूर्वभव के पति और पुत्र को देखा, उन को प्रतिबोध देने के लिये उसने अग्निशिखा का रूप किया और रात्रि के समय वहाँ आकर उनके आगे इधर उधर घूमने लगी। अग्निशिखा को देखकर रुद्रदेव बहुत आश्चर्य पाकर कहने लगा—'हे भद्रे! तू तो मर गई थी तो अब जीवित कैसे हुई? देवताओं की उपासना से, मन्त्रों से या सेवन किये हुए रसौषधों से भी मरे हुए मनुष्य कभी जीवित नहीं होते, ऐसी सर्वज्ञ भगवान् की वाणी है।' तब अग्निशिखा के रूप को धारण करने वाला देव कहने लगा—'उस नागिन के भव में मैंने अनशन किया था। जिससे मैं देव हुई हूँ और इस समय यह रूप धारण करके यहाँ आई हूँ।' रुद्रदेव कहने लगा—'हे मुग्ध! अब तो तू अविरति है तो सर्व विरति ऐसे हमको तू वन्दना क्यों नहीं करता?' देव कहने लगा—'आपको अभी सर्वविरति कहाँ है? कषायों का परिणाम बहुत अनिष्ट है, ऐसा आप

प्रथम से जानते हो तो भी आप कषाय से कलुषित आशय वाले हुए हैं। और दुष्कर्म के दोष से धर्म कार्य में हमेशा सहाय करने वाले साधुओं से सेवित, इसलोक और परलोक में सुख का स्थान, मूल और उत्तर गुण का समूह जिसमें रहा है और जो पुण्य का भण्डार है ऐसे गच्छ का त्याग करके दुःख और दुर्गति के कारण भूत और साधुओं से निन्दित ऐसे शिथिलाचारीपन को तुमने ग्रहण किया है।' इस प्रकार परिणाम में हितकर ऐसा धर्मोपदेश उनको देकर बिजली के प्रकाश की तरह तुरन्त ही वह देव अदृश्य हो गया। उस देव के उपदेश से रुद्रदेव और डूंगर को संवेग उत्पन्न हुआ, जिससे तुरन्त ही वे दोनों मुनि फिर श्रुतसागर आचार्य के पास व्रत लेने के लिये आये। 'क्रोध और मान की अधिकता से तुमको व्रत दुराराध्य है।' इस प्रकार जब गुरु ने कहा, तब रुद्रदेव मुनि संवेग पाते हुए बोले—'हे भगवन्! निमित्त प्राप्त होने पर भी यावज्जीव मैं लेशमात्र भी कोप नहीं करूँगा।' इस प्रकार व्रत में अधिक उत्कण्ठित होकर आचार्य महाराज की साक्षी में उसने अभिग्रह लिया। वैसे "बड़े, ग्लान, बाल, वृद्ध और तपस्वी इनका मैं जीवन पर्यन्त विनय करूँगा।' इस प्रकार सबकी समक्ष डूंगर मुनि ने भी अभिग्रह लिया। जिससे रुद्रदेव और डूंगर मुनि को अखण्ड वैराग्य रंग से रंगा हुआ जान

कर, गुरु ने उनको आलोचना देकर पूर्व की तरह वापिस गच्छ में लिये।

पीछे वे दोनों मुनि आठ काल आदि के अतिचार को निरन्तर त्याग करके अप्रमादपन से अच्छे प्रकार स्वाध्याय ध्यान करने लगे। सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय ये तीन प्रकार के कर्म समूह का क्षय हो जाने से वे आठ प्रकार के दर्शनाचार को अच्छी तरह पालन करने लगे। दुष्ट चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वे शुभ आशय वाले होकर निरतिचार चारित्र पालने लगे। इहलोक और परलोक सम्बन्धी फल को नहीं चाहते हुए छठ अट्टमादि दुष्कर तप वे करने लगे। मुक्ति के साधन के हेतु भूत ऐसे श्री जिनेश्वर भगवान् के कहे हुए योगों के विषय में अपना मन, वचन और काय के बल को वे यथा विधि लगाने लगे। इस प्रकार आप अपने अभिग्रह को सावधान होकर पालते हुए शुभ ध्यान रूप अग्नि से उनके बहुत कर्मरूप ईंधन जल गये, जिस से जीव के वीर्य विशेष के अतिशय सामर्थ्य से और कर्म के परिणाम की विचित्रता से मुक्तिमार्ग को साधने में तत्पर हुए ऐसे उनको कितनेक दिनों में घातिकर्मों के क्षय हो जाने से केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।"

अब पुत्र कुणाल ने प्रभु को पूछा कि—'हे तात! प्रथम तो वे दोनों मुनि उस प्रकार के कषाय वाले थे और पीछे से तुरत ही उनको केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?' भगवान् कहने लगे—हे पुत्रो! जीव का सामर्थ्य अद्भुत है और कर्म का परिणाम भी विचित्र है, यही इसका कारण है, कहा है कि—

'जीवाण गई कम्माण परिणाई पुग्गलाण परियट्ट'।
मुत्तूण जिणं जिणवरमयं च को जाणिउँ तरइ॥

'जीवों की गति, कर्मों की परिणति और पुद्गलों का परिवर्तन ये जिन या जिनेश्वर के मत के विना दूसरा कोई जानने को समर्थ नहीं।'

भारी कर्म के योग से साधु भी अपने मार्ग से पतित होते हैं, तो भी उच्च प्रकार के सत्कार्यों से वे फिर अपने मार्ग पर आ सकते हैं। शूरवीर जीवों को सुसाध्य और बलहीन पुरुषों को दुःसाध्य ऐसे तप को बड़े २ कार्यों की सिद्धि के लिये जिनेश्वर भगवन्त ने प्रथम कहा है। निर्मल तप से मनुष्यों को जो दुर्लभ है वह सुलभ हो जाता है, टेढा हो तो सरल, चंचल हो तो स्थिर और दुःसाध्य हो तो सुसाध्य हो जाता है। जैसे अग्नि से काष्ट भस्म हो जाते हैं वैसे अनन्त भवों में इकट्ठे किये हुए बड़े २ पाप

भी तप रूप अग्नि से भस्म हो जाते हैं। कहा है कि—
"बाह्य और अभ्यन्तर तप रूप अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर दुःख से दूर कर सके ऐसे कर्मों को भी संयमी पुरुष एक क्षणवार में क्षय कर देता है। कर्म के वशीभूत होकर कोई प्राणी बड़े भारी पापकर्म करे, परन्तु सम्यक् प्रकार की आलोचनापूर्वक जो वह तप करे तो शुद्ध हो सकता है। तप स्वभाव से ही सब पापों को नाश करता है। उसमें भी अच्छी आलोचनापूर्वक करे तो प्रक्षरित सिंह के जैसा है। यहां महा दुष्टकर्म करने वाली होने पर भी अच्छी आलोचनापूर्वक तप करके शुद्ध हुई ब्राह्मणी का दृष्टान्त है, उस को सुनो—

इस भरतक्षेत्र के विशालपुर नाम के नगर में जिसने शत्रुओं को अपना दास बनाया है ऐसा और सूर्य के समान तेजस्वी सूरतेज नाम का राजा था। सरल स्वभाव वाला, सौम्य, कृतज्ञ, परदुःख को जानने वाला, दाक्षिण्यता-युक्त, क्षमाशील, गंभीर, रूप में कामदेव जैसा और सब विद्या में पारंगत ऐसा वेदविचक्षण नाम का कोई परदेशी ब्राह्मण उस राजा का पुरोहित था। एक समय राजसभा में से निकलते समय रास्ते में ऊपर और नीचे का चित-कबरे रंग वाला और मोटा कंबल वस्त्र पहने हुए और माथे पर छाछ आदि के दो तीन पात्र रखे हुए, किसी

रूपवती अहीरिन को देख कर वह खेद पूर्वक विचार करने लगा—"अहा! कर्म और वस्त्र जिसको दोनों अयोग्य हैं, ऐसी इस स्त्रीरत्न को विधाता ने क्यों दुखित किया होगा? निश्चय! विधाता रत्नदोषी है।" इस प्रकार वह विचार कर रहा है इतने में आलान स्तंभ को उखाड़ कर स्वेच्छापूर्वक इधर उधर घूमता हुआ राजा का मदोन्मत्त हाथी वहाँ आ पहुँचा। यम के जैसा भयंकर हाथी वहाँ आने से भय से व्याकुल होकर सब मनुष्य चारों ही तरफ भाग गये। उस समय अहीरिन भी भागने लगी। इतने में कोई पनिहारी के साथ भीड़ जाने से वे दोनों गिर गईं, जिससे दोनों के पात्र टूट गये, तो भी अहीरिन के मुख पर शोक की छाया मात्र भी देखने में नहीं आई और पनिहारी तो बहुत रोने लगी। उसको रुदन करती हुई देख कर तथा उस के दुःख से दुःखी होकर पुरोहित उसको पूछने लगा—'हे भद्रे! तू क्यों रोती है?' वह बहुत दुःख से कहने लगी—"हे बन्धो! सुन, मेरा रुदन का कारण इतना ही है कि मेरी सासू का स्वभाव बहुत खराब है, जिससे वह मुझ पर गुस्सा हो कर मुझे घर में पैर न रखने देगी और भोजन भी न देगी। वह रोश लाकर ऐसा कहेगी कि आज तेरे भोजन के मूल्य से ही दो घडे बेचाते लेऊँगी। यही मुझे दुःख

होता है और रोना आता है” पुरोहित ने दया लाकर उसको दो घड़े की क़ीमत देकर विदा किया।

अब पुरोहित आश्चर्य पाकर शोकरहित ऐसी अहीरिन को पूछने लगा—‘हे बहिन! दही दूध आदि के दो तीन वर्तन तेरे टूट गये जिससे आज तुझे वड़ा भारी नुकसान हुआ तो भी तू क्यों नहीं रोती?’ वह कुछ हँस करके कहने लगी—‘हे भाई! मेरा न रोने का कारण सुन—“जैसे वहुत ऋण है वह ऋण नहीं, वैसे वहुत दुःख है वह दुःख नहीं। जिससे मेरा हृदय वज्र के जैसा कठोर होगया है इसलिये मैं नहीं रोती।” यह सुनकर इस वेचारी को क्या महा दुःख पड़ा होगा? ऐसा विचार करते विमनस्य पुरोहित का मन पिघल गया, जिससे वह फिर उसको कहने लगा—‘हे वहन! मैं तेरा वृत्तान्त सब सुनना चाहता हूँ, इसलिये यथार्थ तेरा वृतान्त मुझे कह।’ वह कहने लगी—‘हे भद्र! अपना दुश्चरित्र किसी को कहना यह अपने को और पर को लज्जाकारक होता है। इसलिये उसे अपनी जांघ की तरह ढँका रखना ही अच्छा है, तो भी हे परदुःख को जानने वाले! तेरा मन निरन्तर दूसरों के हित करने में तत्पर है इसलिये मेरा चरित्र केवल तुझे और मुझे सुनने में आवे ऐसे स्थान पर कहूँगी, जिससे इस समीप के वगीचे में तू अकेला ही आ।’ उस

का वृत्तान्त सुनने की इच्छा से वह उसके कथनानुसार बगीचा में गया, पुरोहित के समागम से वह स्नेहवती और रोमांचित होकर तथा हृदय में विश्वास ला कर अपना सम्पूर्ण चरित्र कहने लगी---

लक्ष्मीतिलक नाम के नगर में निरन्तर निर्धनावस्था में रहने वाला, सर्व विद्या में विचक्षण ऐसा वेदसागर नाम का ब्राह्मण रहता था। रूप और सौभाग्य से सुशोभित तथा पतिव्रता रूप सद्गुण वाली कामलक्ष्मी नाम की उसकी पत्नी थी। उसके विनयौचित्यादि कार्य और सद्गुणों से प्रसन्न रह कर आजन्म का दुःसह दारिद्र्य दुःख को भी वह जानता नहीं था। उसकी प्रथमावस्था में ही अच्छे लक्षण वाला और सौभाग्य का स्थान ऐसा वेदविचक्षण नाम का पुत्र हुआ था। वह लगभग एक वर्ष का हुआ, तब एक दिन कामलक्ष्मी नगर के बाहर पानी भरने गई, इतने में अकस्मात् क्षितिप्रतिष्ठित नगर के स्वामी मकरध्वज राजा ने अपने सैन्य से उस नगर को घेर लिया। उस समय द्वारपालों ने नगर के सब दरवाजे एकदम बन्द कर दिये, तब कितने ही चालाक नगरवासी लोग तो भाग गये और जो बाहर गये थे वे सब बाहर ही रहे। चारों ही तरफ़ से सैन्य को आता देखकर भय से व्याकुल होती हुई काम लक्ष्मी भागने लगी, इतने में किसी सिपाही ने

उसको पकड़ लिया। वह बहुत स्वरूपवती होने से उसने मकरध्वज राजा को अर्पण की। उसको देखकर राजा कामांध हो गया और उसको तुरन्त ही अपने अंतःपुर में भेज दी। अब यहाँ अन्न, घास, काष्ठ आदि न मिलने से सारा नगर दुःखी होने लगा, यह देख कर हितबुद्धि से उस नगर के राजा ने मकरध्वज राजा को इच्छित दण्ड दिया, जिससे वह सन्तुष्ट होकर अपने नगर की तरफ़ चला गया। अब कामलक्ष्मी के रूपादि गुणों से मोहित होकर राजा ने उसको अपनी पट-रानी की और सब की स्वामिनी बना दी। दूसरी कुल-वती और शीलवती अनेक रानी थीं, उनका तिरस्कार करके कामान्ध होकर कामलक्ष्मी को ही अपनी जीवितेश्वरी मानने लगा। इस प्रकार सब तरह के सुख के संयोगों से राजा बहुत रागी बनकर निरन्तर उसको सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता था, तो भी वह लेशमात्र सन्तोष नहीं पाती थी। बाल्यावस्था से वह वेदसागर ब्राह्मण पर प्रीतिवाली होने से राजा के सन्मान को वह विष समान मानती थी। इस प्रकार निरन्तर विरक्त ऐसी कामलक्ष्मी के साथ अत्यन्त आसक्त होकर विलास करते २ बीस वर्ष चले गये। वह प्रतिदिन ऐसा ही विचार करती थी कि—'इस राजा के घर से कब मुक्त होऊँ और मेरे पति तथा पुत्र को

आँख से कब देखूं।' इस प्रकार निरन्तर आर्त्तध्यान के वश होकर वहाँ कारागृह (जेल) की तुल्य रहती हुई दुःख से दिन व्यतीत करती थी। एक दिन कामलक्ष्मी पूर्व के स्नेह से विचार करने लगी—'अहा ! इतने वर्ष व्यतीत होने पर भी मेरा पति और पुत्र मुझे मिले नहीं, इसलिये अब परदेशी ब्राह्मणों को याचित स्वर्णदान दूं तो अवश्य वे लोभ से कभी तो यहाँ आवें।' इस प्रकार निश्चय करके ब्राह्मणों को इच्छित सुवर्ण दान देने लगी। सुवर्णदान से उसकी कीर्त्ति चारों तरफ़ फैलने लगी। अब एक दिन दरिद्रता के दुःख से वेदसागर ब्राह्मण भी अपने पुत्र को साथ लेकर वहाँ आया, और आशीर्वाद देकर राणी के पास द्रव्य की याचना की। इतने में उसको कुछ पहिचान कर "आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? तुम्हारी स्त्री कहाँ है ? तुम्हारा कुटुम्ब कितना है ? यह तेरे साथ है, वह क्या तेरा सम्बन्धी है ?" इस प्रकार उसको एकान्त में ले जाकर कामलक्ष्मी ने उसको पूछा। यह सुन कर असम्भावना से और बहुत वर्ष व्यतीत हो जाने से उस को नहीं पहिचानता हुआ वेदसागर अपना चरित्र प्रारम्भ से कहने लगा—"लक्ष्मीतिलक नगर का रहने वाला वेदसागर नाम का मैं ब्राह्मण हूँ। मेरी गुणवती ऐसी कामलक्ष्मी नाम की स्त्री थी। एक दिन वेदविचक्षण नाम के अपना

एक वर्ष के पुत्र को छोड़कर वह पानी लाने के लिये गाँव के बाहर गई, इतने में वहाँ शत्रु का लश्कर अकस्मात् आ पहुँचा। जब वह सैन्य वापिस चला गया तब उसकी सब जगह मैंने बहुत तलाश की; परन्तु उसका कुछ भी समाचार नहीं मिला। पीछे मेरे सम्बन्धियों ने दूसरी स्त्री करने को मुझे बहुत आग्रह किया; किन्तु मैं उसके स्नेह के वश होने से दूसरी स्त्री नहीं परणा। उसके बाद मैंने ही इस छोटे बच्चे को पालन करके बड़ा किया और कुछ बड़ा होते ही उसको सारभूत सब विद्याएँ पढ़ाईं। सुवर्णदान से प्रसरती हुई आपकी प्रसिद्धि सुनकर दरिद्रता से दुखित हुआ मैं पुत्र को साथ लेकर यहाँ आया हूँ।"

इस प्रकार वेदसागर ने जब अपना वृत्तान्त कहा, तब मन में बहुत खेद लाकर कामलक्ष्मी ने भी अपना सब हाल उसको कहा। पूर्व के स्नेहाधीन होने से अभी भी वह उसके साथ जाने की इच्छा वाली है, इसलिये कितने ही बहुमूल्य वाले रत्नों को देकर वह एकान्त में कहने लगी—"हे प्रिय! आपके इष्ट सांकेतिक स्थान दूसरे राज्य में अभी रत्नसहित इस पुत्र को भेज दो, पीछे अपने भी वहाँ चले जायँगे और आज से सातवें दिन रात्रि के समय स्मशान में रहा हुआ चण्डी देवी के मन्दिर में मैं किसी प्रकार भी आऊँगी, उस समय आप भी वहाँ अवश्य आना।" पीछे उसके कहे

अनुसार उसने अपने पुत्र को इष्ट स्थान पर भेज दिया। और संकेत की रात्रि के समय चण्डी के मन्दिर में आकर सो रहा। अब कामलक्ष्मी धूर्त्तता से सातवें दिन राजा को विनती करने लगी—'हे स्वामिन्! एक दिन आपके शिर में भयङ्कर पीड़ा हुई थी, वह आपको याद है? उस समय बहुत से मन्त्र तन्त्र और औषधोपचार किये थे, तो भी वेदना शान्त न होने से मैं अन्न पानी का त्याग करके बहुत व्याकुल हो गई थी। पीछे उसकी शान्ति के लिये प्रसिद्ध महिमा वाली और स्मशान में रहने वाली चण्डी देवी की मैंने इस प्रकार मानता मानी थी कि—'हे मात! यदि राजा की मस्तक पीड़ा शान्त हो जायगी तो रात्रि के समय राजा मेरे साथ आकर के आपकी पूजा करेंगे।' इसलिये आज रात्रि के समय अपने दोनों चण्डी का पूजन करने के लिये वहाँ चलें। उसकी आज्ञा में वशीभूत होने से राजा ने तुरन्त ही उसका कहना मान लिया। पीछे सायंकाल में राजा चण्डी की पूजा करने के लिये कामलक्ष्मीके साथ घोड़े पर बैठ कर और पूजन की सामग्री सब ले करके स्मशान की तरफ चला। सुई से भी न भेद सके, ऐसा अन्धकार चारों तरफ फैला हुआ था, उस समय नगर के बाहर निकला। रास्ते में कहीं सियाल शब्द कर रहे थे, कहीं राक्षसों का कोलाहल मच रहा था, कहीं

भयङ्कर प्रकाश हो रहा था, कहीं उलूक पक्षी बैठे हुए थे, कहीं शव को अग्निसंस्कार करने आये हुए लोग प्रेतों से डर रहे थे, कहीं डाकिनी और शाकिनी बड़े २ शब्दों से रास ले रही थीं; कहीं चपल पिशाच अट्टहास्य कर रहे थे, कहीं कापालिक लोग अच्छे मनुष्यों के पवित्र मस्तकों को ग्रहण करते थे, कहीं चारों तरफ से प्रसरती हुई दुर्गन्ध के पूर से नाक पूरा जाता था और एक दूसरे के ऊपर पड़ी हुई खोपड़ियों से जहाँ गमन भी रुक जाता था ऐसा भय-ङ्कर स्मशान को निर्भय राजा ने देखा। कामलक्ष्मी को वह मुग्धा समझ कर कहने लगा—'हे देवि! यह भयङ्कर स्थान देखकर तूं मन में लेशमात्र भी डर नहीं, कारण कि यहाँ जो मनुष्य डरता है उसको भूत प्रेतादिक ठगते हैं।' यह मूढ़ राजा इतना नहीं जानता था कि वह दुष्टा तो दूसरों को भी डरावे ऐसी है। अब चण्डी देवी का मन्दिर आते ही घोड़े पर से नीचे उतर करके और काम-लक्ष्मी को तलवार देकर जिस समय राजा चण्डिका की पूजा करने में तत्पर हुआ उसी समय छिद्र देखने वाली उसी ने राजा का मस्तक छेद डाला। तुरन्त ही राजा मानो सर्वाङ्ग से देवी को प्रणाम करता हो, इस प्रकार चण्डिका के आगे लम्बा होकर गिरा।

अब बहुत हर्ष पाती हुई कामलक्ष्मी ने राजा के सब आभूषण लेकर मुख्य द्वार के पास सो रहा हुआ उस ब्राह्मण को तुरन्त ही जगाया। किन्तु जैसे ही उसने उठ कर के पृथ्वी पर पैर रखा कि तुरन्त उसको दुष्ट सर्प ने काट लिया, जिससे दुर्दैव योग से वह वहाँ ही तत्काल मर गया। अब दोनों से भ्रष्ट हुई कामलक्ष्मी अत्यन्त खेद करने लगी और भय से घबरा करके और घोड़े पर चढ़ करके शीघ्र ही वहाँ से रवाना हुई। रात्रि में निर्जन मार्ग पर अकेली चलती हुई वह कहीं भी भय न पाई, कारण कि स्त्रियों का जन्म साहस के साथ ही होता है। क्रम से परदेश में कोई नगर में जाकर एक माली के घर अपने घोड़े को बांध दिया। पीछे बहुत वर्षों से राजमहल रूप कैदखाने में पड़ी हुई थी, वह आज छुट्टी हो जाने से स्वेच्छापूर्वक घूमती हुई रात्रि में कोई देवमन्दिर में तबले की आवाज सुन कर वहाँ देखने गई। वहाँ सर्वाङ्ग विभूषित और दिव्यरूप के सौभाग्य से सुशोभित ऐसी नवीन प्रकार की उसको देख कर किसी वारांगना (वेश्या) ने उसको पूछा—'हे सुभागे! तू कौन है? कहाँ से आई है? और किसके घर अतिथि (पाहुन) हुई है?' इस प्रकार सत्कार पूर्वक पूछने से उसने मन कल्पित उत्तर दिया कि—'एक दिन में पिता के घर से

पति के साथ सासरे जाती थी, उस समय रास्ते में डाका पड़ा, वहाँ सब साथी लूटे गये और मेरा स्वामी मर गया। जिसे वहाँ से इधर उधर भागती हुई मैं घोड़े पर चढ़ कर यहां आई हूँ। इस नगर में मेरा कोई सगा नहीं है; इसलिये माली के घर घोड़े को बांध कर मैं यहाँ आई हूँ।' ऐसा उत्तर सुन कर 'यह स्वामी से रहित है इसलिये मेरे कुल को उचित है ?' ऐसा विचार करके वेश्या ने कपट वचनों से उसको प्रसन्न करके अपने घर ले गई। वहाँ सब से अधिक गीत आदि कलाएँ सिखा कर वेश्या ने उस को अपने कुलाचार में प्रवृत्त कर दिया।

अब एक दिन परदेश से कोई श्रीमान् तरुण पुरुष कामलक्ष्मी के घर आकर रहा। सब प्रकार के सुखों में निरन्तर अपनी इच्छानुकूल विलास करते २ उन दोनों का अधिक प्रेम बंध गया, कितने ही समय बाद एक दिन कोई काम के लिये उसको दूसरी जगह जाने की इच्छा हुई; इसलिये एकान्त में कामलक्ष्मी की वह रज़ा मांगने लगा। गमन करने वाला और मरण पाने वाला मनुष्य किसी से रोका नहीं जाता। कहा है कि—'प्राहुने से कभी घर नहीं बसता।' दृढ़स्नेह होने पर भी जाने को तैयार हुआ, उसको रोकने में असमर्थ ऐसी कामलक्ष्मी

शोकाकुल मुख करके कहने लगी—"हे स्वामिन्! अभी तो आप अच्छी तरह जाओ, परन्तु आपका कुल और गोत्र आदि मुझे कहते जाओ, कारण कि आपके वियोग में ये मुझे जीवन के आधार भूत होंगे।" अब वह दृढ़ आलिंगन देकर भावी वियोग से दुःखी होता हुआ और अपने अश्रुरूप स्नेहवृष्टि से उसको सिंचन करता हुआ खेदपूर्वक कहने लगा—"लक्ष्मीतिलक नगर में रहने वाला वेदसागर ब्राह्मण के कामलक्ष्मी नाम की स्त्री के वेदविचक्षण नाम का पुत्र था। जब वह एक वर्ष का हुआ तब उसकी माता (कामलक्ष्मी) पानी लाने के लिये नगर के बाहर गई। उस समय अकस्मात् कोई शत्रु के सैन्य का आगमन हो जाने से वह वापिस घर न आ सकी। पीछे उसकी तलाश करने पर वह जीवती है या मर गई। उसकी कुछ भी खबर नहीं मिली। बाद पिता ने पुत्र को पालन करके बड़ा किया और सब विद्याएँ पढ़ाईं। एक समय दरिद्रता से दुःखी होकर मकरध्वज राजा की राणी के पास पिता और पुत्र याचना करने गये। वहां राणी के साथ एकान्त में कुछ गुप्त बात करके, उसके दिये हुए अमूल्य रत्न, सुवर्ण और मोती के साथ पिता ने पुत्र को अपना संकेत स्थान बतला कर दूसरे राज्य में भेज दिया और कहा कि 'मैं सात आठ दिन के बाद आऊंगा।' पीछे संकेत

स्थान में जाकर वेदविचक्षण पिता की राह देखने लगा। परन्तु वे कोई कारणवश आये नहीं, उसके विरह से मन में दुःखी होकर वेदविचक्षण विचार करने लगा— 'निश्चय रास्ते में मेरे पिता को चोरों ने मार डाला होगा, या व्याघ्र आदि ने उसका भक्षण कर लिया होगा।' इस प्रकार दुःखी होकर विचार किया कि—अहा! दयालु पिता से वियोग करा कर विधाता ने आज मेरा सर्वस्व लूट लिया। मेरी माता को मैंने देखा नहीं था, जिससे उसको ही मा और बाप समझता था; यह दुरात्मा दैव अभी इतना भी सहन न कर सका। स्त्रीजनों के उचित ऐसे दैव को उपालंभ देने से क्या? कारण कि मनुष्यों को शुभ और अशुभ का कारण पूर्वकृत कर्म ही हैं। संसार में जितने संयोग हैं ये सब वियोग के अन्तवाले होते हैं, ऐसी भावना करता २ अपने आप शनैः २ पिता के शोक को छोड़ दिया। उसके बाद विद्या के प्रभाव से सर्वत्र आदर सत्कार पाता हुआ घूमता २ यहां आया। हे कान्ते! वह वेदविचक्षण मैं स्वयं हूँ"। इस प्रकार उसका वृत्तान्त सुन कर तथा उसको अपना पुत्र समझ कर कामलक्ष्मी अपने हृदय में बहुत पश्चात्ताप करने लगी। उसने विचारा कि—'अहा! दैव को धिक्कार है! अति दुष्ट ऐसी मैंने अपने पुत्र के साथ सब लोक में निन्दित

कार्य किया।' इस प्रकार पाप की पश्चात्तापरूप अग्नि उसके हृदय में प्रज्वलित हुई, उस समय तो अपने पुत्र को उसने अपनी पहिचान न दी, कारण कि स्नेह के वश मुझे अपनी माता समझ कर कदाचित् पश्चात्तापरूप अग्नि से दुःखी होकर वह अपना प्राण त्याग दे। पीछे वह इन्द्रिय सुख से उद्वेग पाती हुई अपनी आत्मा को छिपाने के लिये मिथ्या उपचार के वचनों से उसको प्रसन्न करके विदा किया।

उसके जाने के बाद अपने जीवन से दुखी होकर उसने अन्न और जल का त्याग किया और अपने दुष्कृतों का स्मरण करती, अक्का (वेश्या) के पास जलने के लिये काष्ट की याचना की। यह सुन कर अक्का दुःखी होकर कहने लगी—'हे मेरे घर की कल्पलता! अपने को और दूसरे को दुःखकारक ऐसा यह तूने क्या आरम्भ किया? क्या तू आधि व्याधि या कोई दूसरी पीड़ा से दुखित है? कि जिससे अपने शरीर को अग्नि में होमने के लिये तू तैयार हुई है। यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर व्यर्थ क्यों नाश करती है? यहां आने वाले युवकों के साथ इच्छापूर्वक भोग, विलाश कर निष्कलंक और राजाओं को मान्य ऐसा सब प्रकार का सुख तुझे प्राप्त हुआ है। हे मनस्विनि! फिर से यह वेश्याजन्म तुझे कहां मिलने वाला है? हृदय

में दुखी होती हुई कामलक्ष्मी अक्का को कहने लगी—'हे अंबा! आधि या व्याधि की व्यथा से मैं दुखी नहीं हूँ, परन्तु मेरे शरीर को अग्नि में होम कर बहुत समय से विस्तार पाए हुए इस वेश्यापन के पापकर्मों की शुद्धि करने की इच्छा रखती हूँ। स्त्रीपन यह प्राणियों के अनन्त-पापों का फल है, ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं। उसमें भी जो वेश्या का जन्म है वह सड़ी हुई कांजी के बराबर है। सब पापों का मूल इस वेश्या जन्म को तू श्रेष्ठ कहती है तो हे अंबा! जगत् में दूसरा खराब क्या है? वह कहे।' सर्वत्र निन्दापात्र ऐसा पुत्र के संयोग का दुष्कृत ही निश्चय से मरने का कारण था, यह उसने लज्जा के कारण प्रकट न किया। नागरिकों ने, कुट्टिनी ने और राजा ने उसको रोका तो भी काष्ठभक्षण के विचार से वह पीछे न हटी।

मरण में एकाग्र चित्त रख कर उसने सात लंघन किया। जिससे राजा आदि ने उसको आज्ञा दी। अब घोडे पर चढ़ कर दीनदुःखियों को धन देती हुई, अपने दुष्कर्मों के दुःख से दुःखी ऐसी उसने नदी के किनारे नगरवासियों के द्वारा रची हुई चिता में निर्भय होकर प्रवेश किया। समीप रहे नागरिकों ने जब उसकी चिता में आग लगाई, तब भवितव्यता के योग से अकस्मात् बहुत वर्षा हुई। उस समय वर्षा के पानी से पराभव

होकर वृषभों की जैसे नीचे मुख रख कर स्वजनता के अभाव से सब लोग अपने २ ठिकाने चले गये। उस समय तुरन्त ही चिता बुझ गई, जिससे जीवनमृत जैसी वह कुछ जली और नदी के पूर में बहने लगी। बहती २ दैवयोग से नदी के किनारे पर कहीं रुक गई। उस समय मृततुल्य ऐसी उसको किसी अहीरने देखा, जिससे कामलक्ष्मी को वह अपने घर ले आया और मन में दया लाकर निरन्तर उसको औषधोपचार करने लगा। कितनेक दिन पीछे उसका शरीर निरोग हुआ और दैवयोग से पहले से भी अधिक स्वरूपवती हुई।

अब उसको रूप सौभाग्य लावण्य और मनोहर शोभा वाली देख कर अहीर काम से विह्वल हो गया और कहने लगा—'हे सर्वाङ्ग सुभगे! अब तू मेरे घर में रहेगी तो मेरी तमाम मिलकत की तूं स्वामिनी है और मैं तेरा दास हूँ। परन्तु यहाँ से तू चली जायगी तो मेरा प्राण भी तुरन्त चला जायगा, ऐसा समझकर हे भाग्यवती! अब तुझे जैसा अच्छा लगे वैसा कर।' इस प्रकार अहीर का कहना सुनकर कामलक्ष्मी विचार करने लगी—"पहले भी मैंने सात नरक जितना महापाप किया है, इसलिये निर्निमित्त उपकारी ऐसा इस अहीर का भी इष्ट हो। 'जैसे सौ वैसे पचास' ऐसा लोक में कहना है। मुझे मालूम होता

है कि इतने पाप करने पर भी अभी कुछ न्यून रहे होंगे, कि जिसे सर्वभक्षी अग्नि में प्रवेश करने पर भी उस न्यूनता को पूर्ण करने के लिये विधाता ने मुझे जीवित रखी।" कामलक्ष्मी का मन विषयों से उद्विग्न पाया हुआ था तो भी अनेक प्रकार के विचार करके और कुछ इन्द्रियों की चंपलता से उस अहीर की गृहिणी (स्त्री) होकर रही। वहाँ गोदोहन, दही-मथन आदि गोपगृह के उचित सब कामों में संसर्ग से आहिस्ते २ कुशल हुई और दही छाछ आदि वेचने के लिये गोकुल में से प्रतिदिन इस नगर में आने लगी। हे सुज्ञ पुरोहित! निश्चय! दुःख से दग्ध हुई पापिनी कामलक्ष्मी वह मैं ही हूँ। पति और पुत्र के वियोग से दुःखी होकर राजा की राणी होकर रही, वहाँ पूर्व के पति-स्नेह से वश होकर दुष्ट वुद्धि से राजा का भी मैंने वध किया। सर्प का दंश से पूर्व का पति मरा हुआ देख, वहाँ से भाग गई और देशान्तर में वेश्या हुई, वहाँ अपने पुत्र को यार करके रखा। उसके वाद चिता में पैठी और नदी के जल में वहने लगी। अहा! नीच कर्म आचरण करती ऐसी मैं अभी गोपाङ्गना हुई हूँ। इस प्रकार ऊपरा ऊपरी मेरे पर अनेक सङ्कट पड़े, तो हे भ्रात! अभी यह वरतन टूट जाने से मैं कौनसे दुःख को रोऊँ? अनेक प्रकार के दुःख समूह से विकल हुई मैंने इसलिये कहा

कि—जैसे वहुत ऋण है वह ऋण नहीं वैसे वहुत दुःख वह दुख नहीं।'

इस प्रकार उसका चरित्र सुन कर कामलक्ष्मी मेरी माता है, ऐसा समझकर वेदविचक्षण पुरोहित तुरन्त ही अपनी माता के भोग रूप दुश्चरित्र से दुःखी होकर और आँख में आँसू लाकर उसके चरणों में गिरा। यह देखकर अपने चरण को संकोच करती हुई वह कहने लगी—'हे वर्णोत्तम! यह अयोग्य आचरण क्यों करते हैं?' पुरोहित श्याममुख वाला होकर गद्गद् वचनों से कहने लगा—'हे मात! वह मैं तुम्हारा वेदविचक्षण नाम का पुत्र हूँ।' अन्योऽन्य अपना सम्बन्ध जान कर माता और पुत्र के मुख पर श्यामता छा गई, मानो भूमि में प्रवेश करना चाहते हों, वैसे दोनों नीचे मुख होकर पृथ्वी की ओर देखने लगे। अपने २ दुष्ट वृत्तान्त के दुःख रूप अग्नि से परस्पर दोनों का मन जलने लगा और लज्जा के वश से वे एक दूसरे के सन्मुख देखने को भी समर्थ न हुए।

पीछे जल, अग्नि या झँपापात आदि से अपने पाप की शुद्धि करने के लिये आत्मघात की इच्छा करती हुई कामलक्ष्मी से, पुरोहित कहने लगा—हे मात! आत्मघात करने से क्या? वैसे गत वस्तु का या गत काम का शोक

करने से क्या ? अब तो पाप का नाश करने के लिये तप कर्म में यत्न कर। कारण कि प्राणी आत्मघात करने से अपना पूर्व कृत कर्म से मुक्त नहीं हो सकता, किन्तु उसका फल भोगने से या तीव्र तप करने से मुक्त होता है। सिद्धांत में कहा है कि—

'पावाणं च खलु भो कडाणं,
कम्माणं पुव्वि दुच्चिण्णाणं।
दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मुक्खो,
नत्थि अवेइता, तपसा वा सोसाइत्ता॥'

'किये हुए कर्मों को पहले क्षय न किया हो या प्रायश्चित्त न लिया तो वे भोगने से ही छूट सकते हैं, भोगने में न आवे तो नहीं छूट सकते या तप से वे सूख जाते हैं।' इसलिये हे मात! तीव्र ऐसा कोई तप कर कि जिससे अग्नि से सुवर्ण की तरह आत्मा शुद्ध हो जाय। सप्त धातुमय और असार ऐसा इस मानव शरीर से सुज्ञ मनुष्य आत्मा की शुद्धि करने वाला धर्मरूप सार का ही संग्रह करता है।। कहा है कि—

"अत्थिरेण थिरो समलेण
निम्मलो परवसेण साहिणो।

देहेण जइ विढप्पइ
धम्मो ता किं न पज्जत्तं ॥"

'अस्थिर, मलिन और पराधीन ऐसी इस देह से जो स्थिर, निर्मल और स्वाधीन धर्म को वढ़ा सके तो पीछे प्राप्त करने को क्या वाकी रहे?' इस प्रकार अपनी माता को शास्त्रोक्त युक्तियों से समझा कर आत्मघात के विचार से रोकी; पाप की शुद्धि करने की इच्छा से उसके साथ श्रुतसागर के पारगामी और समीप के उपवन में पधारे हुए श्री गुणाकरसूरि को वंदन करने के लिये वेदविचक्षण उसी समय चला। वहां जाकर आचार्य महाराज को वंदन करके वे दोनों योग्य स्थान पर बैठे। उस समय कृपालु मन वाले आचार्य ने इस प्रकार धर्मोपदेश देने लगा—

"इस संसार में पिता मरकर पुत्र होता है, मित्र शत्रु और माता पुत्री होती है, कारण कि कर्मवश प्राणियों को उसका कोई नियम नहीं रहता। एक ही प्राणी ने प्रत्येक जीव को जन्म दिया है, तथा अपत्य स्नेह के वश अनन्तवार उसको खिलाया और पालन किया है। उसी प्रकार एक जीव ने सब प्राणियों को क्रोध के आवेश से वहुत वार मारा है, और अपने शरीर की पुष्टि के लिये उनका वहुत

घार भक्षण भी किया है। इसलिये निश्चय है कि इस संसार में कोई जीव अन्योऽन्य अपना या पर का नहीं है। तो भी अहो ! अज्ञ प्राणी राग और द्वेष के वश से पाप को व्यर्थ उपार्जित करते हैं। इस संसार में जीवों का सम्बन्ध सब अनियमित है, इसलिये विवेकी पुरुष स्त्री पुत्रादि के प्रेम में बंधते नहीं हैं अर्थात् मोह नहीं पाते। जो वस्तु एक को अनुकूल है वही वस्तु दूसरे को प्रतिकूल होती है, जिससे वस्तुओं में रम्यारम्य को व्यवस्था भी यथार्थ सत्य नहीं है। जब मन प्रसन्न हो तब जगत् अमृत जैसा लगता है और दुःख आने से वही विषमय लगता है। मन के संकल्प के अनुसार वस्तु रम्य और अरम्य लगती है, इसलिये ममत्व रहित ऐसा भवभीरु पुरुष राग द्वेष को छोड़कर समस्त वस्तुओं में समता धारण करता है।"

इस प्रकार धर्मोपदेश श्रवण करके वे माता और पुत्र संसार से विरक्त हुए और दीक्षा लेने के लिये उत्सुक हुए। तब फिर आचार्य इस प्रकार कहने लगे—"जैसे स्वच्छ दीवार पर खैंचा हुआ चित्र अतिशय शोभित होता है, वैसे अच्छी प्रकार आलोचना पूर्वक शुद्ध हुए भव्य जीवों का व्रतग्रहण भी अधिक दीप्यमान होता है। इसलिये दीक्षा लेने का यदि तुम्हारा आग्रह हो तो जन्म से लेकर आज तक मन, वचन और काया से किये हुए पापों की प्रथम

आलोचना लो।' इस प्रकार गुरु के कहने से उन्होंने राग और द्वेष से जो २ दुष्कृत किया था वह और अवाच्य पाप भी अच्छी तरह आलोचे, जिससे प्रवर्द्धमान संवेग वाले और निष्कपट मन वाले ऐसे उन दोनों को आचार्य महाराज ने प्रायश्चित तप देकर दीक्षा दी। पीछे किसी भी फल की इच्छा रखे विना और निष्कपट ऐसा दुष्कर तप तपती और जिनेश्वर भगवन्त के द्वारा प्ररूपित आवश्यकादि क्रियाओं में निरन्तर प्रमाद रहित रहती कामलक्ष्मी बहुत काल तक साध्वियों के साथ विहार करके अन्त में समग्र कर्मों का क्षय करके मोक्ष पद को प्राप्त हुई।

वेदविचक्षण मुनि भी सम्यक् संवेग से रंगित होकर पांच प्रकार के आचार को निरतिचारपन से पालने लगे। सूत्र और अर्थ से सर्व द्वादशांगी का अभ्यास किया और क्रम से वह छत्तीस गुणों से सहित ऐसा आचार्य पद के योग्य हुआ। पीछे वह आचार्य पदवी प्राप्त करके भूमि तल पर विहार करते हुए प्राणी वर्ग को प्रतिबोध देने के लिये इस प्रकार धर्मोपदेश देने लगे—'जो बाल ब्रह्मचारी है और जिसने संसार मोह का त्याग करके सर्वचारित्र का आश्रय किया है, वही पुण्यवन्त प्राणी इस संसार में प्रशंसा का पात्र है और जिसने मेरी तरह दोनों लोक से

विरुद्ध आचरणों से निन्दा उपार्जित नहीं की, वे प्राणी भी प्रशंसनीय हैं। या तो किसको स्खलना नहीं हुई? किसके सब मनोरथ पूर्ण हुए हैं? इस संसार में किसको निरन्तर सुख है? इस प्रकार का न्याय होने से कितनेक मनुष्य पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर निंद्यकृत्य भी करता है; परन्तु उसकी शुद्धि की इच्छा रखने वाले से ऐसे वे सद्गुरु के पास अच्छी तरह आलोयणा ले कर जो तीव्र तप करे तो वे निश्चय प्रशंसा के योग्य हैं।' इस प्रकार उपदेश देता हुआ वेद विचक्षण सूरि अपना अन्तकाल समीप आया जान कर, सब प्राणियों के साथ क्षमत क्षामणा करके, श्रेष्ठ ऐसा पादपोपगमन अनशन करके तथा ध्यान और तप के बल से सर्व कर्मों का एक साथ क्षय करके, अन्तकृत केवली होकर परम पद को पाया।"

कामलक्ष्मी और वेदविचक्षण पुरोहित भारी दुष्कर्म करके भी ऐसे दुष्कर तप से पुनः गुरुपद पाया। बड़े पुरुष पापकर्म करने में समर्थ होते हैं वैसे क्षय करने में भी समर्थ होते हैं। किन्तु नीच पुरुष तो केवल पापकर्म करने में ही समर्थ होते हैं। इसलिये हे भव्यजनो! तप का अतुल प्रभाव इस दृष्टान्त से समझ लेना।

यह दृष्टान्त देकर प्रभु ने कहा—हे वत्सो ! रुद्रदेव मुनि और डूंगर मुनि भी बहुत काल तक भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर अन्त में परम पद को पाये ।

इस प्रकार कषाय कुटुम्ब के सम्बन्ध में एक २ कषाय का तात्कालिक खराब परिणाम समझ कर फिर उन चारों का तो कौन आश्रय करे ?

अगस्त्य के उदय से जल का, उसी प्रकार प्रभु के उपदेश से कषायों का उपशम हो जाने से सब राजकुमारों का मन निर्मल हो गया ।

❋ इति प्रथमोल्लास ❋

❀ दूसरा उल्लास ❀

सत्यस्वरूपी, परमब्रह्म पद में स्थित, ब्राह्मी* के पिता निर्लेप और जगद्वन्धु जैसे नाभिकुमार (ऋषभदेव) हमको कल्याण दें।

उस समय कुरु देश का अधिपति कुरु नामक प्रभु का पुत्र ललाट पर अंजली लगा कर पिता को इस प्रकार विनती करने लगा—"हे नाथ! कषाय के कटुक विपाक का आपने हमको ऐसा उपदेश दिया वह तो ठीक है, लेकिन प्रिया-पुत्र आदि का प्रेमपाश तो अत्यन्त दुःख से त्याग किया जा सकता है। अहो! एक तरफ मोह दुर्जय है और दूसरी तरफ हमको संसार का डर है। निश्चय! अभी व्याघ्र और दुस्तटी (गहरी नदी) का विषम प्रसंग हमारे पर आ पड़ा है।" भगवन्त कहने लगे—हे वत्सो! विषय सुख तुच्छ और अनित्य है, अविच्छिन्न नित्य सुख तो मोक्ष में ही है। यह जीव शुभाशुभ जैसी गति में जाने वाला

---

* ब्राह्मी—सरस्वती जिन वाणी समझना, या प्रभु की पुत्री समझना।

होता है, वैसी ही वह मन, वचन और काया के द्वारा चेष्टाएँ करता है। कहा है कि—

'ठाणं उच्चुच्चयरं मज्झं हीणं च हीणतरगं वा।
जेण जहिं गंतव्वं चिट्ठावि से तारिसी होई ॥'

'उच्च, उच्चतर, मध्यम, हीन और हीनतर इनमें से जो जो स्थान में जीव जाने वाला होता है उसकी चेष्टा भी उसी प्रकार की ही होती है।' हे पुत्रो! संवेग के कारण और कर्म के प्रभाव को बतलाने वाला पाँच जीवों का वृत्तान्त इस सम्बन्ध में दृष्टान्तरूप है उसको सुनो—

अनन्त प्राणियों के निवास से संकीर्ण (भरे हुए) ऐसे संसारपुर नाम के नगर में जिनके माता पिता मर गये हैं ऐसे पाँच कुल पुत्र रहते थे। अभव्य, दुरभव्य, भव्य, आसन्नसिद्धि और तद्भवसिद्धि क्रम से उनके नाम थे। इस तरफ़ नरकपुर, तिर्यंचपुर, नरपुर, सुरपुर और सिद्धिपुर इन नाम के पाँच बहुत प्रसिद्ध नगर हैं, वहाँ महामोह, अतिमोह, संमोह, मोह और क्षीणमोह नाम के पाँच सार्थवाह रहते थे। उनको क्रम से नरकगति, तिर्यंचगति, नरगति, स्वर्गगति और सिद्धिगति नाम की पाँच पुत्रिएँ थीं। वे अपनी कन्याओं को साथ लेकर सब जगह योग्य वर की शोध करते २ संसारपुर में आ पहुँचे। वहाँ अन्योऽन्य अपने

धर्म के विचार को प्रकट करते हुए ऐसे पाँच कुलपुत्रों को देखे, यह क्या कहते हैं उसको सुनने के लिये वे समीप आकर सुनने लगे। उनमें प्रथम अभव्य कहने लगा—'पुण्य, पाप, उसका फल, भोगने वाला, परलोक, जीव तथा बन्ध और मोक्ष इनमें से कुछ भी नहीं है। शीतता, उष्णता, आतापना, लोच और मलिनता धारण करने की सब व्यथाएँ धर्मबुद्धि से सहन करने में आती हैं, किन्तु वे केवल कायक्लेश के लिये ही हैं। क्षुधा, मरण तपकर्म, प्रव्रज्या, त्याग, देव आदि का पूजन, धन का व्यय, मौन और जटाधारण ये सब दम्भ ही हैं। धर्मकथा का कथन मुग्ध लोगों को ठगने के लिये ही है। जिसे तात्त्विक विषय ही स्वेच्छा से सेवन करने योग्य है।' दुरभव्य कहने लगा—'इन्द्रिय सुखों का त्याग करके परलोक के सुख के लिये जो यत्न करना है वह मानो अपने हाथों से पक्षियों को उड़ा कर जाल रचता है, इसलिये जो कुछ हुआ हो उसको भोग लेना, पी लेना और पहन लेना यही धर्म मुझे तो इष्ट लगता है।' भव्य कहने लगा—'धर्म और अधर्म दोनों अच्छे हैं, सुज्ञ पुरुषों को उन दोनों का समान भाग से सेवन करना चाहिये किन्तु एक में ही आसक्त नहीं होना चाहिये।' आसन्नसिद्धिक कहने लगा—'धर्म, यह सब अर्थों का साधन है और चारों ही पुरुषार्थों में वह मुख्य है, इसलिये

सज्जनों को सावधान होकर निरन्तर उस का ही सेवन करना चाहिये। परन्तु आजीविका आदि के लिये गृहस्थों को उद्योग करना योग्य है, तो भी ऐहिककार्यों में केवल दो तीन प्रहर ही व्यतीत करना चाहिये।' अब निर्दोष बुद्धि वाला तद्भवसिद्धि कहने लगा—'उत्तमोत्तम पुरुषों ने जिसका सेवन किया है और सब प्रकार के सावद्य कर्म का त्याग करने से इस लोक और परलोक में कल्याण कारक है ऐसा साधु धर्म ही हितार्थी पुरुषों को निरन्तर सेवने योग्य है।'

इन पाँचों के कथनानुसार उन पाँचों ही सार्थवाहों को अपनी अपनी कन्याओं के उचित वर होने से वे पसन्द आये। जिससे उन्हों को सार्थवाह कहने लगे—'आप को हमारी कन्याएँ परणावें, परन्तु आपको उनकी आज्ञा में रहना होगा।' इस प्रकार उन्होंने स्वीकार किया, पीछे अभव्य महामोह की नरकगति नाम की कन्या के साथ, दुर-भव्य अतिमोह की तिर्यचगति नाम की कन्या के साथ, भव्य संमोह की नरगति नाम की कन्या के साथ, आसन्न-सिद्धिक मोह की स्वर्गगति नाम की कन्या के साथ और तद्भवसिद्धिक चीणमोह की सिद्धिगति नाम की कन्या के साथ परणा। अपने योग्य प्रिया की प्राप्ति होने से वे अतिशय हर्षित होने लगे। वधूवर के उचित स्नेह सम्बन्ध से प्रसन्न चित्त

होकर महामोहादिक सार्थवाह भी अपने अपने जमाई के पास ही रहे।

अब पांचों ही अभव्य आदि ने अपनी २ वल्लभा के साथ निरन्तर सुख भोगते हुए बहुत काल व्यतीत किया। एक दिन धन उपार्जन करने के लिये सब सामग्री तैयार करके और पांच जहाज़ों में अनेक प्रकार के किराना भर के, कौतुक मंगल किया है जिन्होंने ऐसे वे पांच कुल पुत्रों ने अपनी २ स्त्रियों के साथ उत्साहित होकर अच्छे दिन रत्नद्वीप की तरफ़ प्रयाण किया। उन्हों का जहाज़ वेग से समुद्र में जा रहा था, इतने में उन्हों का मानो प्रत्यक्ष भयंकर दुर्दैव ही हो ऐसा एक बादल आकाश में प्रकट हुआ, तुरन्त ही उल्कापात समान बिजली के चमत्कारों से, तथा तीव्र और बड़े २ गर्जारवों से, जहां अपनी भुजाएँ भी न दीख सकें ऐसा निबिड़ अंधकार से आकाश व्याप्त हो गया। उसी समय जहाज़ में बैठे हुए सब लोग अपने २ जीवन की आशा छोड़कर इसलोक और परलोक में कल्याण-कारी देवगुरु का स्मरण करने लगे और धन पुत्र और कलत्र आदि में मोहित हुए, कितने ही कायर लोग मृत्यु आई देख कर मूर्च्छित होने लगे। कुछ समय में ही मूसलधार पानी बरसने लगा, जिससे अभाग्य योग से तत्काल ही उन्हों के जहाज़ पानी से पूर्ण भर गये और

दुर्भागी की इष्ट सिद्धि विना के मनोरथ की तरह उनके वे पांचों ही जहाज़ डूब गये और जहाज़ में बैठे हुए सब लोग सामुदायिक कर्म के योग से हाहारव करते २ तत्काल मर गये। उसी समय अपनी २ स्त्रियों के सहित अभव्य आदि पांचों को भाग्योदय से एक २ जहाज़ का पटिया हाथ आया। उसके आलंबन से अति चपल तरंगों से इधर उधर टुकराते और जगह २ तिमिंगलादि मत्स्यों से भक्षण कराते ऐसे वे पांचों ही पुरुष पटिया के सहारे से तैरते २ सातवें दिन समुद्र उतर करके दैवयोग से कंथारी-कुडंग नाम के द्वीप आ पहुँचे। समान दुःख वाले ऐसे वे पांचों ही इकट्ठे होकर इस प्रकार कहने लगे—'हे भाइयो! अभी अपना पुण्य तेज़ है, जिससे अपने सब साथ मिले।' अब वे वस्त्र रहित होने से अपने शरीर की स्थिति (निवास) के लिये स्थान की खोज करने लगे, वहां उन्होंने घर के आकार वाले पांच वृक्ष देखे। वहां अभव्य अपनी नरक गति नाम की स्त्री के साथ कपिकच्छु नाम के वृक्ष के भीतर प्रसन्न मन से रहने लगा। दुरभव्य अपनी तिर्यंच गति प्रिया के साथ कंथारी वृक्ष में रहने लगा। भव्य ने मनुष्य गति नाम की अपनी कान्ता के साथ बदरी वृक्ष में वास किया। आसन्नसिद्धिक अपनी स्वर्गगति स्त्री के साथ काकोन्दुंबरिका नाम का विशाल वृक्ष के नीचे

रहा और तद्भवसिद्धिक ने अपनी सिद्धिगति नाम की भार्या के साथ करणीसार नामक वृक्ष के नीचे वास किया। इस प्रकार आश्रय मिलने से कुछ मन में निवृत्त होकर तृषा के कारण उन्होंने किसी खड्डे में रहे हुए खदिर का रस मिश्रित पानी पिया। पीछे क्षुधातुर ऐसे उन्होंने अत्यंत परिपक्व कैथ आदि फल खाये, इसी तरह स्त्रियाँ सहित निरन्तर अपनी आजीविका चलाने लगे। वहां अभव्य और दूरभव्य तो हर्षित होकर बहुत सुख मानने लगे। भव्य सुख और दुःख नहीं मानता रहा। आसन्नसिद्धिक दुःख मानने लगा और तद्भवसिद्धिक तो अत्यन्त दुःख मानने लगा।

एक दिन अनुकूल पवन से वहां वृक्ष प्रफुल्लित हुए, यह देख कर अभव्य इस प्रकार कहने लगा—'इन वृक्षों में अब थोड़े समय में पुष्प और फल आवेंगे, इसलिये अपना भाग्य अब जाग्रत हुआ।' दूरभव्य ने भी इसकी बात आनन्दपूर्वक स्वीकार ली। भव्य को तो यह सुन कर हर्ष या शोक कुछ भी न हुआ और 'यह जो हर्ष का स्थान हो तो पीछे शोक का स्थान कौन सा?' इस प्रकार आसन्न-सिद्धिक और तद्भवसिद्धिक कहने लगे।

अब टूटे हुए जहाज़ का निशान एक वृक्ष के ऊपर बांध करके वे अपने २ वृक्ष का रक्षण करते हुए सुख से

रहने लगे। उस निशान को देखने से सुवित्त नाम का कोई जहाज़ वाला 'इस द्वीप में कोई भग्ननाव (टूटे हुए जहाज़ से उतरे हुए मुसाफ़िर) है' ऐसा समझा। कृपालु हृदय वाले उसने उसी समय उनको लाने के लिये नाव के साथ अपने मनुष्यों को वहां भेजा। उन्होंने जहाज़ वाले की बात कहकर इस प्रकार कहने लगे—'दुःख का स्थान रूप इस द्वीप में रहते २ नाश न हो जाओ अर्थात् दुःखी न हो इसलिये हमारे साथ चलो, हम आपको शीघ्र ही समुद्र के पार ले जायँगे।' यह सुन कर अभव्य बोला—'अरे! यहां अपने को क्या दुःख है? देखो, यहां स्वयं सिद्ध वृक्ष रूप अच्छा घर है और पुष्प फलादिक सुख से अपने को मिलते हैं। अब तो ये वृक्ष भी पल्लवित हुए हैं जिससे सत्फल की समृद्धि सन्मुख ही है। तथा हृदय और शरीर को आनन्द देने वाली यह पत्नी भी सदा साथ ही है। समुद्र के पार जाने से अपने को इससे क्या अधिक सुख मिलने का है? और जलमार्ग में जाने से जीवित रहने का भी संदेह दीखता है, इसलिये यह द्वीप अच्छा है, मैं तो उस पार आने वाला नहीं हूँ।' इस प्रकार अपने पति का वचन नरकगति ने भी खुशी होकर मान लिया। पीछे 'अरे! मुझे वहां आना तो है परन्तु बहुत काल व्यतीत होने के बाद आऊँगा' ऐसा जब दूरभव्य ने कहा तब उसकी तिर्यंचगति स्त्री बोली—'हे नाथ! आपने ठीक

कहा यह मुझको भी मान्य है।' पीछे भव्य ने उनको इस प्रकार कहा कि—'अभी तो आप चले जाओ कारण कि कुछ वर्ष पीछे मैं वहाँ आने का विचार रखता हूँ' यह वचन उसकी नरगति कान्ता ने मान लिया। पीछे 'मैं एक वर्ष बाद आऊँगा' ऐसा आसन्नसिद्धिक ने कहा, जिससे उसकी स्वर्गगति स्त्री बोली—'हे प्रिय! आपने ठीक कहा।' यह देख कर और सुनकर 'अहो! इन दम्पतियों का मन वचन और काया से जैसा प्रकृति सादृश्य देखने में आता है, ऐसा दूसरी जगह कहीं देखने में नहीं आया। दम्पती का संयोग दूर दूर से एकत्र मिलता है, परन्तु उनमें गुण, रूप और प्रकृति आदि का मिलान होगा यह निश्चय विधाता की ही कुशलता है।' कहा है कि—

'तत्तिल्लो विहिराया जाणइ दूरे वि जो जहिं वसइ।
जं जस्स होइ सरिसं तं तस्स विइज्जिअं देइ॥'

'चतुर विधाता जो कोई दूर जाकर रहा हो उस को भी जानता है और जो जिसके सदृश हो वह उसको मिला देता।' इस प्रकार के उन चार कुल-पुत्रों को देख कर मन में विचार करते हुए उन्होंने 'अब तुझे क्या करना है?' ऐसा तद्भवसिद्धिक को पूछा। तब वह बोला कि—'हे निष्कारण बान्धव! बिना विलम्ब मुझको यहाँ से तुरंत

दुःख समुद्र के उस पार ले चलो। यह स्थान मधुलिप्त तलवार की धारा के अग्र भाग का चाटने के बराबर है। यहाँ बहुत प्रकार के कष्ट हैं और सुख अति तुच्छ मात्र है।' इस प्रकार अपने पति के वचन सुनकर उसकी सिद्धिगति स्त्री हर्षित होकर बोली—'हे प्राणेश ! आपने जो कहा वह मुझे अक्षरशः रुचता है।' पीछे तद्भवसिद्धिक अपनी स्त्री सहित उन मनुष्यों के साथ नाव में बैठ कर वेग से जहाज़ वाले के पास गया। उसने अपना सब वृत्तान्त कहा और उसके साथ समुद्र को उतर करके वह अपने सगे सम्बन्धियों से मिला और निरन्तर सुखी हुआ।

हे वत्सो ! यह दृष्टान्त तुमको जो कहा है उसका उपनय कहता हूँ वह सुनो—

यहाँ अभव्यादिक जो पाँच कुलपुत्र कहे हैं, वे पाँच गति में जाने वाले पाँच प्रकार के जीव समझना, जन्म, मरण और रोग आदि से चारों तरफ व्याप्त और दुःख से अन्त हो सके ऐसे इस संसार को सुज्ञ मनुष्यों ने समुद्र कहा है। दुःख, दारिद्र्य, दौर्भाग्य, रोग, उद्वेग आदि से व्याकुल यह मनुष्य जन्म कंथारी कुडंग द्वीप समान है। निरन्तर दुःखों को ही भोगने का होने से तिर्यंचगति और नरकगति इन दोनों को कंथारी और कपिकच्छु नाम के

वृक्ष सदृश कहा है। पाप के उदय से ही इन दोनों गति प्राणियों को स्त्री रूप से प्राप्त होती हैं। इन गतियां का वन्ध प्रायः पापी जीवों को ही होता है। सुख और दुःख एक साथ रूप नरगति और स्वर्गगति हैं, इनको वदरी और उदुम्बर (गूलर) के विशाल वृक्ष समान जानना। सामान्य सत्कार्यों से प्राणियों को ये दोनों गति मियारूप से प्राप्त होती हैं और प्रायः सामान्य जीवों को ही इनमें रहने की इच्छा होती है। तथा उत्तम मनुष्यों को तो प्रायः एकान्त और अत्यन्त सुखपूर्ण महोदय गति-सिद्धि गति की ही निरन्तर इच्छा होती है। मनुष्यजन्म में रहे हुए जीव आधिव्याधि और वियोग आदि दुःख प्राप्त न होने की बुद्धि से फल समान ऐसे अपने पुत्रादिकों का मोह से रक्षण करते हैं। सुवित्त नामक जहाज़ वाला यहाँ धर्माचार्य समझना और उसके निर्यामक (नाविक) मनुष्य के तुल्य धर्मोपदेशक साधु जानना। कहा है कि—

'प्राणिनोऽपारसंसार-पारावारेऽत्र मज्जतः।
तारयन्ति ततो वाचं-यमा निर्यामकाः स्मृताः॥'

'यह अपार संसार रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को तारते हैं इसलिये साधुओं को निर्यामक कहे हैं' जहाज़ के स्थान पर यहाँ निर्दोष जैनदीक्षा जाननी और अत्यंत

सुख वाला जो निर्वाण वह यहाँ समुद्र का तट समझना, चार गति के प्राणियों पर उत्तम मैत्री भाव को धारण करने वाले साधु इस दृष्टान्त में कहे अनुसार पांच प्रकार के जीवों को इस प्रकार उपदेश देते हैं—

"किसी निर्भागी मुसाफिर ने जैसे एक काकिणीरत्न के लिये पहले प्राप्त किये हज़ार रुपये भी गँवा दिये। जैसे एक राजा तुच्छ और अपथ्य आम्रफल खा कर अपना जीवन से तथा राज्यलक्ष्मी से भ्रष्ट हुआ, वैसे यहाँ तुच्छ इन्द्रिय सुखों में आसक्त होकर कितनेक मूढ़ जीव परलोक सम्बन्धी स्वर्ग और मोक्ष के सुख को गवाँ देते हैं। हे भव्यजनो! तुच्छ शुक्रादि से उत्पन्न हुए और निन्दनीय ऐसे भोगों का त्याग करके धर्म का आराधन करो कि जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो" इस प्रकार साधुओं का कथन सुन कर पाँच प्रकार के जीवों में से अभव्य हँस कर इस प्रकार कहने लगा—मोक्ष किस प्रकार का है और उस को किसने देखा है? यहाँ तो सब इन्द्रियों को सुखकारक विषय घृत के पक्वान और खजूर आदि का उपभोग होता है, वस्त्र और आभूषण आदि को हम स्वेच्छापूर्वक पहनते हैं, तथा क्रीड़ा हास्य और कौतुकों से सुखपूर्वक समय व्यतीत करते हैं, इनमें से जहाँ एक भी सुख नहीं

है, ऐसे तत्त्व से दुःखरूप मोक्ष में जाने की, अपने हित को चाहने वाला ऐसा कौन इच्छा करे ?" इस प्रकार एकान्त सुख वाले मोक्ष का तिरस्कार करके, खड्डे के सूअर की तरह विषयरूप कीचड़ में निरन्तर आसक्त होकर रहता हुआ अभव्य जीव आधि व्याधि जन्म जरा और मरण आदि दुःखों से दुःखी होकर इस अनन्त संसार में निरन्तर घूमा करेगा। दूरभव्य ने उन्हों को इस प्रकार कहा— "हे महाराज ! आप जो कहते हैं वे सब परिणाम से हितकारक हैं, इसलिये मैं उसका बहुत समय बाद आराधन करूँगा, अभी तो नहीं। यौवन, धनसम्पत्ति, अनुकूल पत्नी और नीरोगी शरीर इत्यादि अभी तो प्राप्त हुए हैं, उनका समझदार मनुष्य कैसे त्याग करे ? यौवनावस्था में पंचेन्द्रिय सुखों का त्याग करके धर्म का सेवन करना वह 'पीलु के समय चोंच पाके' इस कथन के जैसा समझना।" बहुत काल व्यतीत होने बाद फिर साधु महात्माओं ने करुणा बुद्धि से ऐसा ही उपदेश किया, परन्तु फिर भी उसने पहले कहे अनुसार ही जवाब दिया। इस प्रकार सत्यासत्य आलम्बनों से साधुओं को ठगता हुआ वह बेचारा दूरभव्य धर्म को नहीं पा सकता। वह प्रायः नरक और तिर्यञ्च गति में तथा कोई बार मनुष्य एवं देवगति में भी पैर २ दुःखाकुल होकर और अनन्तकाल परिभ्रमण

करके यथाप्रवृत्तिकरण के योग से कर्मों से विवर पाकर गुरु के उपदेश से सम्यग्धर्म पावेगा। पीछे धर्म का अच्छी तरह आराधन करने से कितनेक भव पीछे समस्त कर्मों का क्षय करके वह सिद्धिसुख को पावेगा। भव्यजीव उन साधुओं को इस प्रकार कहने लगा—"मोक्ष की इच्छा से आपके कहे हुए धर्म का मैं आराधन करूँगा, परन्तु सात आठ वर्ष वाद वह वन सकेगा। कारण कि अभी स्त्री गर्भवती है, छोटा वालक को अभी पढ़ाया नहीं और पुत्री को भी परणाई नहीं, इसलिये अभी तुरन्त में तो वे सब मेरे से नहीं छूट सकें।" सात आठ वर्ष वाद उस की योग्यता का विचार करके साधुओं ने फिर उसको कहा—'हे भद्र! अब जिनेश्वर भगवन्त की दीक्षा को स्वीकार कर।' पीछे अर्हन्त के धर्म को स्वीकार करके संवेग में रमण करता हुआ वह (भव्य) सात आठ भव में कर्म से रहित होकर मोक्ष को पावेगा। अब उन साधुओं का उपदेश सुन कर आसन्नसिद्धिक इस प्रकार कहने लगा—'हे प्रभो! आपने जो कहा वह अमृत के पान की तरह मुझे वहुत पसन्द है, परन्तु स्त्री, पुत्र आदि के प्रेम बन्धन से मैं बँधा हुआ हूँ, जिससे उन सब को छोड़ देने की इच्छा रखते हुए भी गृहस्थपन को सहसा छोड़ नहीं सकता हूँ, परन्तु स्त्री और पुत्र आदि के प्रतिबन्धको आस्ते २

छोड़ कर आगामी वर्ष में अवश्य आपके उपदेश के अनु-सार वर्त्तन करूँगा।' पीछे दूसरे वर्ष साधु के उपदेश से श्रद्धावन्त होकर उसने तुरन्त जैन दीक्षा ग्रहण की और उसका अच्छी तरह आराधन करके वह स्वर्ग में गया। वहाँ बहुत काल सुख को भोग कर, पीछे वहाँ से मनुष्य-गति में आकर मोक्ष जायगा। अब पुण्य के माहात्म्य से पूर्ण ऐसे साधुओं के वचनों को सुन कर तद्भवसिद्धिक हर्षित होकर इस प्रकार कहने लगा—'हे साधुओं में श्रेष्ठ! आपने अनादिकाल से मोहनिद्रा के योग से नष्ट चेतन वाला ऐसा मुझको अच्छा प्रतिबोध दिया है। अवश्य! मैं धन्य पुरुषों से भी धन्य हूँ, कारण कि उन्मार्ग में जाता हुआ मुझको आप सन्मार्ग के उपदेशक मिले। इस अपार संसार सागर में डूबता हुआ मैंने सद्धर्म नाव युक्त निर्यामक समान आपको पाया। पांच इन्द्रिय रूप चोरों ने स्नेहपाश से बांध कर क्षुधा, प्यास आदि दुःखों से दुखित, ऐसे मुझको संसार रूप जेलखाने में डाला है। वहाँ जन्म, मरण, आधि और व्याधि रूप चाबुकों से प्रतिदिन मार खाता हुआ मैंने इतने समय तक किसी की भी शरण नहीं पाई थी, अब अच्छे भाग्य से अशरण को शरण देने वाले और बंधन से मुक्त करने वाले ऐसे आप मुझे प्राप्त हुए हैं। संसार में मनुष्य और देवता की संपत्ति

पाना तो सुलभ है, परन्तु प्राणियों को सद्गुरु का संयोग मिलना बहुत दुर्लभ है। अत्यन्त आसक्ति से बहुत वार छहों रस मैंने प्राप्त कर लिये, परन्तु प्राणियों के जन्ममरण को नाश करने वाला ऐसा सद्गुरु का वचन रूप अमृत कभी भी मैंने प्राप्त नहीं किया। विद्वान् मनुष्य भी गुरु की सहायता के विना सम्यक्तत्व को नहीं जान सकता, जैसे अन्धकार में अच्छे नेत्र वाला मनुष्य भी विना दीपक पदार्थों को नहीं देख सकता। फिर जैसे संसार के असार सुख को प्राप्त करने के लिये प्राणी यत्न करते हैं, वैसे भावपूर्वक जैन क्रिया के लिये प्रयत्न करे तो मोक्ष करतल (हथेली) में ही है। विषयुक्त पक्वान के समान अनेक प्रकार के दुःख से संयुक्त ऐसे सांसारिक सुखों से मैं अब निवृत्त हुआ हूँ। द्रव्योपार्जन वर्जित व्यापार की तरह जिनधर्म के आराधन से रहित इतना समय वृथा गया, वह मुझको बहुत खटकता है। इसलिये हे मुनीश! संसार सागर से तारने वाली, पाप को हरने वाली और प्राणियों को कल्याण करने वाली ऐसी जैन दीक्षा आप मुझको शीघ्र ही दें, कारण कि भारी कर्म वाले जीवों को धर्म-कार्य में प्रायः अन्तराय तुरन्त आती है। प्राज्ञ पुरुष कह गये हैं कि—धर्म की शीघ्रगति है। इस प्रकार बढ़ता हुआ वैराग्य से श्लेष्म की तरह तत्काल संसारवास का

त्याग करके उसने मुनि के पास दीक्षा ली। पीछे निरंतर प्रमाद रहित रह कर साधु धर्म का आचरण करता हुआ ऐसा तद्भवसिद्धिक सर्व कर्मों का क्षय करके उसी भव में मुक्ति पद को पाया। पाप कर्म से प्रायः नरक और तिर्यंच गति में भटकता हुआ और कोई वार अज्ञान कष्ट क्रिया से देव और मनुष्य गति में जाता हुआ ऐसा भव्य भी भाग्यहीन को जैसे सुवर्ण निधान मिले, वैसे अनन्तकाल व्यतीत होने बाद मोक्ष पद पावेगा। दूरभव्य अनन्तकाल जाने बाद सिद्ध होगा, या सात आठ भव में भव्य, तीन भव में आसन्नसिद्धिक और उसी भव में तद्भवसिद्धिक मोक्ष जायँगे। इनके मोह की न्यूनाधिकता से इस प्रकार भेद होते हैं। जितना जिसको मोह, उतना उसको संसार समझना। मोह का चय और अपचय के अनुसार प्राणियों को संसार होता है। इसलिये पापकर्म के अंकुर रूप दुःख के समूह को देने वाला और आत्मतेज की हानि करने वाला ऐसा मोह मोक्षार्थी जीवों को सर्वथा त्याग करने योग्य है। संसार में जो जीव घूमे हैं, घूम रहे हैं, और घूमेंगे, ये सब मोह की ही महिमा है। पैशुन्य, उन्मार्ग का उपदेश, मिथ्या वचन, विषय में अत्यन्त आसक्ति, मिथ्यात्व में रमणता, आर्हत धर्म की अवज्ञा और सुसाधुओं का उपहास ये सुज्ञ मनुष्यों ने महामोह

का लक्षण कहे हैं। मृत्यु-जन्मादि की सामग्री प्राप्त करके भी मोह के प्रभाव से जैसे प्रियंगु सेठ संसार अटवी में चिरकाल घूमा और मोह का त्याग करने से पत्नी सहित उसके पुत्र ने संसार अरण्य का पार पाया, वैसे संसारी जीवों को भी होता है। हे वत्सो! यह दृष्टान्त सुनो—

पोतनपुर नाम के नगर में परम ऋद्धि वाला, मिथ्यात्व में ही रमण करने वाला, अर्हद् धर्म, क्रिया, शुद्ध साधु और श्रद्धा को हँसने वाला, झूठे तोल और झूठे माप आदि रखने से तथा झूठा बोल कर परद्रव्य को हरने वाला प्रियंगु नाम का सेठ रहता था। रूप में रंभा जैसी अपनी प्रीतिमती नाम की प्रिया के साथ काम की तीव्र अभिलाषा से वह स्वेच्छापूर्वक भोग भोगता था। एक दिन किसी ने कौतुक से प्रश्न किया कि 'हे सेठ! छः दर्शनों में से आप कौनसा दर्शन मानते हो' तब वह मूढ़ बुद्धि वाला हँसता २ कहने लगा कि "मैं तो प्राण प्रिया का दर्शन ही श्रेष्ठ मानता हूं कि जहाँ रागवान् पुरुष भी निवृत्ति (सुख) पाता है। कहा है कि—

'प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः।
निवृत्ति र्लभ्यते यस्मिन् सरागेणापि चेतसा॥'

'एक प्रिया का दर्शन ही हो दूसरे दर्शनों से क्या ? जिस दर्शन में सराग मन वाला भी निर्वृत्ति (सुख) को प्राप्त कर सकता है।'

मिथ्या शास्त्रों की युक्तियों से मुग्ध लोगों को ठगने के लिये ही जगत् में दूसरे दर्शनों को दांभिक लोगों ने रचे हैं। इसलिये जितने समय तक तुम्हारे पास इस विषय की सामग्री हो उतने समय तक मन में शंका रखे बिना यथेच्छ विलास करो। पाखण्डी लोगों से ठगा कर प्राप्त हुए भोगों को तुम त्याग करो नहीं।" इस प्रकार वह कुबुद्धि सेठ दूसरे को भी उन्मार्ग का उपदेश देता था। एक दिन प्रीतिमती को अच्छे लक्षण वाले पुत्र का प्रसव हुआ, जिससे सेठ ने हर्षित होकर उसका वधामणी महोत्सव किया। पिता आदि ने उसका देवदिन्न ऐसा नाम रखा। निरन्तर पाँच धात्रियों से लालन पालन होता हुआ वह सुख पूर्वक वृद्धि पाने लगा। योग्य अवसर जान कर भाग्य और सौभाग्य के स्थान रूप उसको पढ़ने के लिये पिता ने कलाचार्य के घर रखा। वहां परिश्रम करके क्रम से बहत्तर कलाओं को सीखने लगा। अब उसी नगर में सुन्दर नाम का धनिक सार्थवाह रहता था। रूप में रति से भी अधिक रूपवती गुणों से दूसरे को शरमाने वाली और स्त्रियों में मुकुट समान ऐसी सरस्वती

नाम की उसके एक पुत्री थी। वह भी उसी कलाचार्य्य के पास निरन्तर मन लगा कर स्त्री जन के उचित ऐसी चौसठ कलाओं को पढ़ती थी। एक दिन कोई अनुचित कार्य्य हो जाने से उपाध्याय मन में अतिशय क्रोध लाकर अपनी स्त्री को निर्दयपन से मारने लगा। उस समय देवदिन्न आदि सब विद्यार्थी दयार्द्र मन वाले होकर तुरंत भीतर जाकर उपाध्याय को रोकने लगे। किन्तु सरस्वती तो उस हकीकत की अवज्ञा करके अपने स्थान से उठी भी नहीं, जिससे देवदिन्न मन में आश्चर्य पाकर एकान्त में उसको पूछने लगा—'हे सुभगे! उपाध्याय जब अपनी स्त्री को मारते थे उस समय तू क्यों नहीं उठी? यह सुन कर वह कुछ मुख मोड़ कर बोली—"इस कुनारी की चिन्ता से मुझे क्या प्रयोजन?" देवदिन्न ने कहा—'यह कुनारी कैसे?' तब फिर वह कहने लगी—"सुनारी तो वह है कि जो अपने दास की तरह पति के पास घर के काम करावे और आपत्ति के समय उसको सहाय करे, यदि ऐसे करने में असमर्थ हो तो पति की आज्ञा के अनुसार चले। इस कारण यह कुनारी है कि अपन में ऐसी शक्ति न होने पर पति की आज्ञानुसार नहीं चलती। इसलिये अपने लक्षणों से ही वह कुत्ती की तरह मार खाती है।" सब पुरुषों का तिरस्कार करने वाले और

उच्छृङ्खल ऐसे उसके वचन सुन कर देवदिन्न क्रोधपूर्वक मन में विचारने लगा—"सब स्वजनवर्ग के समक्ष इसको परण कर तुरन्त ही उसका अवश्य त्याग कर देना, और दृष्टि से भी नहीं देखनी। जिससे अपने गर्विष्ठ वचन के फल को वह अनुभव करे।" चतुर सरस्वती इसकी चेष्टा से उस प्रकार के रहस्य को समझ गई। अब वे दोनों अपने २ उचित शिक्षा पाकर अपने २ घर गये।

अब यहां देवदिन्न कुमार को अपनी २ कन्या देने के लिये बहुत श्रीमान् लोग प्रियंगु सेठ के घर आने लगे। परन्तु वह अपने पिता को इस प्रकार कहने लगा—'हे तात! सुन्दर सार्थवाह की कन्या सरस्वती सिवाय दूसरी कोई कन्या मैं नहीं परणूंगा।' अपना एक ही पुत्र होने से वह अधिक प्रिय था, जिससे पिता भी उसकी प्रतिज्ञा को अन्यथा नहीं कर सका। जिससे अपनी कन्या देने को आये हुए सब श्रेष्ठियों की उपेक्षा करके उसने सुंदर सार्थवाह को ब्राह्मण के द्वारा इस प्रकार कहलाया—"हे सार्थेश! नाम और विद्या में सरस्वती तुम्हारी कन्या है, उसको दिव्य स्वरूप वाले ऐसे मेरे पुत्र के लिये दें। कारण कि कला और स्वभाव में तुल्य ऐसे देवदिन्न और सरस्वती का सम्बन्ध मुझे सुवर्ण और मणि के जैसा लगता है। समान ऋद्धि और आचरणों से अपनी प्रीति प्रथम से ही चली

आती है, उसको इस सम्बन्ध से मैं अधिक दृढ़ करना चाहता हूँ।" प्रियंगु सेठ के इस प्रकार के वचनों को सुन कर सरल स्वभाव वाले सुन्दर सार्थवाह ने उसी समय अपनी पुत्री सरस्वती को बुलाया और उसको गोद में बैठा कर स्नेह से इस प्रकार कहने लगा—"हे वत्से! देवदिन्न कुमार के साथ तेरी सगाई करने के लिये प्रियंगु सेठ ने इस ब्राह्मण को भेजा है।" सरस्वती देवदिन्न के दुष्ट विचार को अच्छी तरह जानती थी, तो भी कुशलता से अपने वचन को सिद्ध करके दिखलाने की इच्छा करती हुई वह पिता से कहने लगी—'हे तात! आप दूसरे किसी को भी मुझे देवेंगे ही तो पीछे कुल स्वभाव वय और विद्या आदि में वह मेरे योग्य है।' सरस्वती के इस प्रकार के उत्तर से सन्तुष्ट होकर सुन्दर सेठ ब्राह्मण के साथ प्रियंगु सेठ के घर गया और अपनी कन्या देवदिन्न को दी। पीछे शुभ लग्न में बड़े महोत्सव से सम्मान और सत्कार पूर्वक उन्हीं का विवाह आनन्द पूर्वक हुआ। परन्तु दुष्ट हृदय वाला देवदिन्न सरस्वती को परण कर उसी समय उसको पिता के घर रख कर अपने घर चला आया। मित्र और सगे सम्बन्धियों ने लोक विरुद्धादि अनेक युक्तियों से बहुत बार उसको समझाया, किन्तु वह सरस्वती को अपने घर नहीं लाया। प्रियंगु सेठ

किसी कारण से उसको अपने घर लाना चाहता था, परन्तु अपना पुत्र नाराज़ हो जायगा इस भय से वह किसी दिन भी उसको अपने घर नहीं ला सका। मन वचन और काया से निर्मल शील व्रत पालती हुई सरस्वती खेद रहित पिता के घर रहने लगी और देवदिन्न पिता की कृपा से निरन्तर निश्चिन्त होकर अपने मित्रों के साथ उद्यान आदि में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करता हुआ रहने लगा।

अब एक दिन दो तीन मित्रों के साथ बात करने में व्यग्र मन हो जाने से, लीलापूर्वक राजमार्ग में चलते समय देवदिन्न के कन्धे से मार्ग में सामने से आती हुई कामपताका नाम की राजमान्य वेश्या को धक्का लग गया। राजा की कृपापात्री वेश्या मन में बहुत खेद पाकर और देवदिन्न का हाथ पकड़ कर ईर्ष्या पूर्वक कहने लगी—'यौवनावस्था में अपनी कमाई हुई लक्ष्मी को दान भोगादि से उपभोग करने वाले को कभी ऐसा गर्व हो तो वह योग्य है, परन्तु तू तो अभी पिता की लक्ष्मी का उपभोग करता है, तो हे श्रेष्ठिकुमार! मिथ्या अहंकार को धारण करके कन्धे से मनुष्यों को आघात करता हुआ कैसे चलता है? सोलह वर्ष का होने पर जो पुत्र पिता की

लक्ष्मी को भोगता है, वह पूर्व के ऋण सम्बन्ध से ही उसके वहां आया हुआ समझना। कहा है कि—

'मातुः स्तन्यं रजः क्रीडा मन्मनावागलज्जता।
शैशवे भान्ति निर्हेतु-हास्यं भोगः पितुः श्रियः॥'

'माता का स्तनपान, धूली की क्रीडा, मन्मन (अस्पष्ट) बोलना, लज्जा रहित रहना, विना कारण हँसना, और पिता की लक्ष्मी का उपभोग करना ये सब बाल्यावस्था में ही शोभता है।' कहा है कि—

'स्वसा पित्रार्जिता लक्ष्मीः परस्त्री च परार्जिता।
स्वार्जितैव ततो भोक्तुं युज्यते महतां ध्रुवम्॥'

'पिता की उपार्जित की हुई लक्ष्मी वहिन के समान और दूसरों के द्वारा उपार्जित की हुई लक्ष्मी पर स्त्री के समान है, इसलिये महान् पुरुषों को अपनी उपार्जित की हुई लक्ष्मी को ही भोगना योग्य है।' इस प्रकार इसका कटाक्ष युक्त वचन अपने को लज्जाकारक होने पर भी देवदिन्न ने हितकर गुरु की शिक्षा के समान मान लिया। पीछे हर्षित होकर उसने हृदय में विचारा कि—"इस वेश्या ने मुझे अच्छा बोध दिया। लक्ष्मी प्राप्त करने योग्य

मेरी यह अवस्था क्रीडा में ही वृथा चली जाती है। कहा है कि—

'प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितो धर्मः स तूर्ये किं करिष्यति॥'

"जिसने प्रथमावस्था में विद्या प्राप्त नहीं की, दूसरी अवस्था में धन प्राप्त नहीं किया और तीसरी अवस्था में धर्मकार्य नहीं किया तो वह चौथी अवस्था में क्या कर सकेगा?" पीछे तुरन्त ही घर पर आकर और विनय से मस्तक नमा कर शुभ उत्साह वाले देवदिन्न ने आदरपूर्वक पिता को इस प्रकार कहा—'हे तात! किराना से जहाज़ों को भर कर समुद्र के उस पार के द्वीप में लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मैं जाऊँगा, इसलिये आप मुझको आज्ञा दें।' सेठ लोभ के वश होने पर भी पुत्र के स्नेह से उसको कहने लगा—'हे वत्स! परदेश विषम (कठिन) है, उसमें भी समुद्रमार्ग तो विशेष कठिन है। कुल का आलंबन भूत तू मेरे एक ही पुत्र है, जिसे प्राण के संदेह वाली इस समुद्र यात्रा को मत कर।' उसके उत्तर में देवदिन्न ने कहा—'हे तात! उद्यम से ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, और जो उद्यम में आलस्य करता है, उससे लक्ष्मी दूर २ भागती है। कहा है कि—

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं पुरुषकारपरिहीनम् ।
प्रमदा इव वृद्धपतिं नेच्छन्त्यवगूहितुं लक्ष्मीः ॥

'जो रोज़गार रहित हो, आलसी हो, भाग्य पर आधार रखने वाला हो, और पुरुषार्थहीन हो ऐसे पुरुष को, जैसे युवा स्त्री वृद्धपति को नहीं चाहती, वैसे लक्ष्मी नहीं चाहती ।' लक्ष्मी तो सर्वत्र मनुष्यों को कष्ट से प्राप्त हो सकती है । विधाने की व्यथा को सहन करने वाला कान ही कुंडल को धारण करता है ।

इस प्रकार धन प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उत्कंठित वृत्ति वाले पुत्र के उत्साह से सन्तुष्ट होकर श्रेष्ठि ने उसको आज्ञा दी । अब अनेक प्रकार के किराने से चार जाति के नाव भर कर और उसके योग्य दूसरी भी सब सामग्री इकट्ठी करके, 'लक्ष्मी का मूल अविश्वास है' इस वाक्य के अर्थ को मन में स्मरण करके, 'हे वत्स ! परद्वीप में तू किसी का भी विश्वास नहीं करना ।' इस प्रकार पिता की हित शिक्षा रूप आशीष को स्नेह से स्वीकार करके, बलीपूजन आदि से समुद्रदेव का आराधन करके एवं दीन दुःखियों को दान देता हुआ चतुर देवदिन्न इष्टदेव को नमस्कार करके शुभावसर में परिवार समेत जहाज़ में बैठ कर जलयात्रा आरम्भ की ।

अब उत्साहपूर्वक श्रेष्ठीनन्दन देवदिन्न ने पारस देश के किनारे की तरफ़ शीघ्र ही खलासियों के द्वारा जहाज़ चलाया। उस समय नाव को सीधे मार्ग में चलाने के लिये बहुत परिश्रम किया, किन्तु दुर्दैव के योग से प्रचण्ड पवन से प्रेरित होकर जहाज़ वक्र घोड़े की तरह उन्मार्ग में चलने लगा। 'यह जहाज़ अवश्य कहीं न कहीं टकरा कर टूट जायगा' ऐसा विचार कर नाव में बैठे हुए देवदिन्न आदि सब खेद करने लगे। इतने में दैवयोग से स्वच्छ और अति ऊँचे हैं मन्दिर जिसमें ऐसे कोई अपरिचित द्वीप में वह जहाज़ आ पहुँचा। इसलिये मानो अपने नया जन्म पाये हों ऐसा मानते हुए देवदिन्न आदि सब हर्षपूर्वक जहाज़ से भूमि पर उतरे।

देवदिन्न ने वहाँ किसी मनुष्य से पूछा—'इस गाँव का क्या नाम है? यहाँ राजा कौन है? और उसके बड़े बड़े अधिकारी लोग कौन कौन हैं? वह कहने लगा—'हे सेठ! इस गाँव का नाम अन्यायपुर है, प्रचण्ड आज्ञा वाला ऐसा निर्विचार नाम का यहाँ राजा है, सुज्ञ सर्वगिल नाम का उसका मन्त्री है, शिलापात नाम का पुरोहित है और अनाचार नाम का राजा का भण्डारी है। यहाँ सर्वत्र प्रसिद्धि पाया हुआ सर्वलुंटाक नाम का कोतवाल है और श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ अज्ञान राशि नाम का तपस्वी है। राजा की

कृपापात्र और नगर के सब बड़े बड़े पुरुषों को माननीय ऐसी कूटबुद्धि नाम की परिव्राजिका है। राजा के ऊपर जब शत्रुओं का भयंकर संकट आता है तब, कपट बुद्धि की निधान रूप वह उसको युक्ति बतलाती है। उसकी बुद्धि के बल से राजा सब शत्रुओं को जीत कर उनकी समस्त लक्ष्मी को अपने आधीन कर लेता है।'

इस प्रकार उस मनुष्य के मुख से सब व्यक्तियों का हाल जान कर प्रौढ़ मनुष्यों के साथ देवदिन्न ने राजा के पास जाकर प्रणाम किया। वहां राजा से सम्मान पाकर सभासद के उचित मर्यादा पूर्वक बैठा २ वह राज्य की व्यवस्था देखता रहा। इतने में अपने केशों को बखेरती हुई तथा अपनी छाती को कूटती हुई और बड़े शब्दों से पुकार करती हुई ऐसी कोई वृद्ध स्त्री वहां आई। उस समय 'हे अम्ब ! तू कौन है और क्यों पुकार करती है ?' ऐसा राजा ने पूछा तब वह कहने लगी--'हे नाथ ! मैं चोर की माता हूँ और आपके नगर में रहती हूं। परन्तु शुभाशुभ संताप मैं किसी को भी कभी उत्पन्न नहीं करती, किसी के साथ कलह भी नहीं करती, वैसे मैं किसी के घर भी नहीं जाती।' यह सुन कर 'अहो ! वचन में न आ सके ऐसा इसका सुशीलपना दीखता है।' इस प्रकार हृदय में आश्चर्य पाकर राजा ने पूछा--'तब क्या है ?' वह कहने

लगी—"हे राजन् ! अन्धे की लकड़ी तुल्य मेरा अकेला पुत्र इस नगर में निरन्तर चोरी करके अपना गृह-निर्वाह चलाता था, वह आज देवदत्त सेठ के घर चोरी करने गया था, वहां अकस्मात् उसके ऊपर दीवाल गिर पड़ी जिससे वह वहां ही मर गया। हा हा ! अब मैं उसके बिना आधार रहित हो गई हूं, तो मेरा कल्याण कैसे होगा ? इस प्रकार के दुःख समूह से दुःखी होकर मैं पुकार करती हूं।" राजा ने कहा—"हे मात ! तेरा पुत्र मर गया उसका तू खेद मत कर मैं तेरा पालन पोषण कर तुझे सब प्रकार सन्तुष्ट रक्खूंगा।" इस प्रकार दया से राजा ने उस वृद्धा स्त्री को संतोषित करके विदा किया।

अब राजा ने उस देवदत्त सेठ को बुलवा कर कोप सहित कहा—'हे दुरात्मन् ! तूने ऐसी जीर्ण दीवार क्यों करवाई ? कि जिसके गिरने से वेचारा चोर मर गया।' सेठ भय से कांपता हुआ कहने लगा—'हे स्वामिन् ! मेरा इसमें क्या अपराध है ? कारण कि मैंने तो पैसा खर्च करके सब सामग्री कारीगर को तैयार करवादी थी और उसके कहे अनुसार मजूरी के दाम भी उसको दे दिये थे। इसलिये यदि आप सत्यतां से विचार करेंगे तो इसमें उसका ही दोष है।' सेठ का ऐसा उत्तर सुन कर तुरन्त ही कारीगर को बुलवा कर क्रोध पूर्वक राजा ने

पूछा—'अरे! चोर का घात करने वाली ऐसी जीर्ण दीवार तूने क्यों बनवाई?' वह बोला—'हे प्रभो! मैं तो बराबर दीवार बनाने में सावधान था, परन्तु उस समय बहुत शृङ्गार सज कर नवयौवना देवदत्त की पुत्री कटाक्ष-पात करती हुई वहाँ से निकली, उसके रूप में व्यग्रचित्त हो जाने से मैं कुछ शून्यचित्त हो गया था, जिससे ईंट बराबर लगा नहीं सका, इसमें मेरा क्या दोष?' कारीगर का उत्तर सुन कर राजा ने देवदत्त की पुत्री को बुलवा कर कहा—'हे मुग्धे! जहाँ एकाग्र मन से कारीगर घर बना रहा था वहाँ तू क्यों निकली?' देवदत्त की पुत्री ने जवाब दिया कि—'हे राजन्! मैं मेरे सम्बन्धी के घर जाती थी वहाँ रास्ते में खड़े हुए एक नग्न संन्यासी को देख कर लज्जा-वश उधर से जाना पड़ा, इसमें मेरा लेश-मात्र भी अपराध नहीं है।' यह सुन कर राजा ने संन्यासी को बुलवा कर क्रोध से कहने लगा—'हे निर्लज्ज! राज मार्ग में नग्न होकर क्यों खड़ा था?' वह कहने लगा—'हे पृथ्वीनाथ! श्वास को ऊँचा चढ़ा कर मैं वहाँ बहुत काल से खड़ा था, परन्तु घोड़े को खेलाते हुए आपके जमाई ने रास्ते में मुझको स्खलित किया, इसलिये आप न्यायमार्ग से देखिये कि मेरा इसमें क्या अपराध है?' अब राजा अपने जमाई को बुलवा कर रोष से कहने

लगा—'नगर में सब लोगों के जाने आने के मार्ग में तुम क्यों घोड़े को विविध चाल सिखा रहे थे ?' जमाई कहने लगा—'हे राजन् ! इसमें मेरा लेशमात्र भी अपराध नहीं है, परन्तु मुझको ऐसी बुद्धि देने वाले विधाता का ही दोष है ।' यह सुन कर राजा सभा के मनुष्यों से कहने लगा—'विधाता को भी बलात्कार से बाँध कर यहाँ हाज़िर करो, कारण कि मैं किसी का भी अपराध सहन करने वाला नहीं हूँ ।' उस समय धूर्त्त सभासद कहने लगे—'हे देव ! आपकी कठोर आज्ञा से भय पाकर अपराधी होने से वह उसी समय अवश्य भाग गया मालूम होता है। परन्तु प्रचण्ड प्रताप वाले ऐसे आपके पास से भाग करके भी वह विधाता सूर्य से सियार की जैसे कितना दूर जायगा ? जहाँ तहाँ से भी बाँध कर के हम यहाँ हाज़िर करेंगे ।' इस प्रकार के झूठे होने पर सत्य वाले जैसे उन धूर्त्त लोगों के वचनों से हृदय में खुश होता हुआ वह निर्विचार राजा सभा विसर्जन करके अपने को न्याय तत्पर मानता हुआ भोजन के लिये अपने आवास में चला गया ।

देवदत्त वणिक् इस देश के अद्भुत न्यायमार्ग की कुशलता को देख कर हृदय में अत्यन्त आश्चर्य पाता हुआ विचार करने लगा—'अहो ! निर्विचार राजा

की राज्यनीति की व्यवस्था पहले कभी नहीं देखी और नहीं सुनी, ऐसी कोई नवीन ही प्रकार की लगती है।'

अब देवदिन्न सभा में से उठ कर और अपने स्थान पर पहुँच कर, जहाज़ में से माल उतार करके किराये पर लिए हुए घर में भरने लगा और क्रय विक्रय (बेचने और खरीदने) का विचार करता हुआ देवदिन्न वहाँ सुख से रहने लगा। एक दिन वहाँ परिव्राजिका ने उस श्रेष्ठिपुत्र को परिवार समेत भोजन के लिये आदरभाव से आमंत्रित किया, और अनेक प्रकार के पक्वान, फल, भात, दाल और घृत आदि भोज्य पदार्थों से उसने सत्य और उचित रीति से उसका सत्कार किया। सरल स्वभाव वाला देवदिन्न अपने परिवार सहित भोजन के लिये वहाँ आया, उसी समय नाम और गुण से कूटबुद्धि परिव्राजिका ने देवदिन्न के ठहरने के मकान में एकान्त गुप्तस्थान पर अपने एक विश्वासपात्र मनुष्य के द्वारा एक सुवर्ण का थाल रखवा दिया। जब देवदिन्न जीम कर अपने स्थान पर गया तब उसके पीछे अपने एक आदमी को भेजा और उसके द्वारा इस प्रकार कहलाया—'हमारा एक सुवर्ण का थाल आज कहीं गुम होगया है। आपके परिवार के सिवाय दूसरा कोई मनुष्य यहाँ नहीं आया था, इसलिये आप सबको पूछ कर और अपने मकान में सब जगह

तलाश कर शीघ्र ही हमको वह वापिस दे दें कि जिससे बाहर किसी को मालूम न हो।' देवदिन्न कहने लगा—'हे भद्र! कभी काल के प्रभाव से सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हो और समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ दे परन्तु हमारे में से कोई भी मनुष्य दूसरे की रमणीय वस्तु में भी अपना हाथ नहीं डालता, इसलिये अपने घर ही जाकर उसको तलाश करो।' पीछे परिव्राजिका स्वयं आकर के देवदिन्न को फिर कहने लगी—'हे श्रेष्ठिन्! थाल आपके ही मकान में कहीं आया हुआ है, इसलिये मैं स्नेहाचार से माँगती हूँ आप मुझे वह दे दें। 'जहाँ खाया वहाँ ही भाजन तोड़ना' ऐसा मत करो। अब, यदि इस प्रकार सरलता से माँगने पर भी आप नहीं देंगे तो राजबल से दण्डयुक्तियों के द्वारा मुझे लेना पड़ेगा।' उसके कपट को नहीं जानता हुआ सरल देवदिन्न कहने लगा—'हे वाचाल! ऐसा न्यूनाधिक वृथा क्यो बोलती है? क्या कांतिवन्त सुवर्ण में कभी श्यामता आई देखी है? हमारे परिजन को ऐसा काम करना कभी योग्य नहीं है, इसलिये तुम्हारे घर में ही कहीं वह थाल होगा, वहाँ शीघ्र ही जाकर अपने परिवार को पूछो। अपना पृष्ठ भाग अपने से शुद्ध नहीं हो सकता ऐसे अपना मनःकल्पित सत्य नहीं होता, इस प्रकार जानता हुआ तुम्हारे जैसा सुज्ञ मनुष्य दूसरे पर सहसा

मिथ्यादोष का आरोप क्यों करे ?' इस प्रकार आपस में बोलते २ विवाद बढ़ने लगा, उसके इन्साफ के लिये वे दोनों राज-सभा में गये। उनके विवाद का हाल समझ कर और अन्योऽन्य विचार कर राजा के बड़े से बड़े सामन्त ने उस को इस प्रकार हुकुम सुनाया—'तलाश करने पर वह थाल जिसके घर में से निकलेगा, उसके घर का सर्वस्व दूसरे को अवश्य देना पड़ेगा।' पीछे वह परिव्राजिका अधिकारियों के साथ देवदिन्न के घर आई और उसने अपना विश्वासी मनुष्यों के द्वारा थाल की तलाश करवाई। प्रथम तो वे धूर्त्तता से दूसरे २ ठिकाने देखने लगे। और पीछे अपने रखे हुए स्थान से थाल लाकर उसको सौंपा। पीछे राजा की आज्ञा मिलने से कूटबुद्धि ने उसके घर का सर्वस्व ले लिया और देवदिन्न को अपना दास बनाया। इस प्रकार जब देवदिन्न पर संकट आया, तब कूटबुद्धि के निग्रह के भय से उसके सब परिजन तुरन्त ही वहाँ से भाग कर कहीं चले गये। पहले भी बहुत से परदेशी व्यापारियों को कपट से उन का सर्वस्व हरण कर उसने इस प्रकार अपने दास बनाये थे।

अब कूटबुद्धि परिव्राजिका के घर दास होकर रहा हुआ देवदिन्न नीचकार्य करते समय बहुत दुःखी होकर

मन में इस प्रकार विचार करने लगा—'धन प्राप्त करने के लिये बड़े मनोरथ से यहाँ आते ही अहा ! विधाता ने मेरी कैसी दुःखी अवस्था करदी ! मनुष्य कई प्रकार की धारणा करता है उसको विधाता उससे अन्यथा कर देता है। आभूषण पहरने के लिये विंधे हुए दरिद्रियों के कान में आभूषण के स्थान पर मैल भरा रहता है। शरण रहित, दीन और पराधीन ऐसे मेरा जीवन भी यहाँ हो जैसे मेरा सर्वस्व गया वैसे जायगा। इस जगत् में ऐसा कोई कृष्ण चतुर्दशी का जन्मा हुआ नहीं है कि जो मुझे इस दुष्टा स्त्री के दास-कर्म से मुक्त करे। तो भी यह मेरा यथार्थ वृत्तान्त किसी प्रयत्न से लिख कर मेरे पिता के पास भेजूं। पीछे स्वदेश जाने वाले किसी सार्थवाह के द्वारा उसने अपने हाथ की निशानी वाला लेख पिता के पास भेजा। कुछ दिन के वाद प्रियंगुसेठ को वह लेख मिला। अपने पुत्र की दुःखित स्थिति बाँच कर वह बड़े स्वर से रोने लगा।

इधर देवदिन्न ने जिस दिन विदेश के लिए प्रस्थान किया था, उसी दिन प्रियंगु सेठ अपनी पुत्रवधू सरस्वती को स्नेह से अपने घर ले आया था। आज अकस्मात् अपने ससुर को दुःखाकुल देखकर 'आज कुछ नवीन है' ऐसी शंका रूप शल्य से वह आकुल-व्याकुल हो गई।

जिससे तुरन्त ही ससुर के पास आकर और नमन करके तथा आँख में आँसू लाकर वह पूछने लगी—'हे तात ! आप आज अकस्मात् दुःखित क्यों हैं ?' निःश्वास पूर्वक प्रियंगु सेठ गद्गद् स्वर से उसको कहने लगा—'परदेश में दुर्दैव के योग से देवदिन्न की बड़ी दुर्दशा हो रही है।' वज्राघात जैसी अपने पति की दुर्दशा सुनकर उस पतिव्रता का हृदय दुःख से भर गया, परन्तु धैर्य रखकर वह ससुर को भी धैर्य देने लगी—'हे तात ! पुत्र की दुःखरूप व्याधि को सुनकर आप ऐसे करुण स्वर से रुदन न करें, रुदन करने से कोई राज्य नहीं मिलता, अब तो प्रसन्न होकर मुझे पुरुष का वेष देकर, आपके परिचित और विश्वास पात्र मनुष्यों के साथ शीघ्र ही अन्यायपुर भेजें, कि जिससे उस दुष्ट स्त्री के दुरन्तदास्य कर्म से छुड़ा कर मेरे बुद्धिबल से आपके पुत्र को यहाँ ले आऊँ।' सेठ दुःखित होकर कहने लगा—'हे मुग्धे ! तुझे खबर नहीं है कि पहले अन्यायपुर से कभी कोई कुशल पूर्वक वापिस नहीं आया, तो दैव की विपरीतता से इस प्रकार दुःखी हुए पुत्र के पिछाड़ी अज्ञानता के वश होकर 'गौ के पीछे वाछड़ी की जैसे' पुत्रवधू का कैसे नाश करूँ ?' सरस्वती फिर कहने लगी—'हे तात ! आप ऐसा विचार मन में न लावें, कारण कि भाग्यवन्त पुरुषों को विघ्नों के पीछे लाभ

ही मिलता है।' पीछे अपने बुद्धिबल से अत्यन्त उत्साह वाली वहू को देखकर, अपने पुत्र को छुड़ाने की इच्छा से, वहाँ जाने के लिये सेठ ने आज्ञा दे दी।

अब श्वसुर के दिए हुए पुरुष-वेष को धारण कर, अनेक प्रकार के किराने और नवीन परिवार सहित वह सती, शुभ दिन में शुभ शकुन होने पर जहाज में बैठकर चली। कितने ही दिनों वाद वह अन्यायपुर नगर में आ पहुँची और अपूर्व भेट से वहाँ के राजा को सन्तुष्ट करके अपने विश्वासपात्र मनुष्यों से वड़ा सम्मान पाती हुई एक किराये लिए हुए मकान में रहने लगी। 'कोई वडे सेठ का सोमदत्त नाम का चतुर पुत्र अयोध्या से यहाँ आया है।' इस प्रकार वह लोगों में प्रसिद्ध हुई। एक दिन उसी लोभी परिव्राजिका ने पहले की तरह उसको आदर पूर्वक भोजन का आमन्त्रण दिया; परन्तु जीमने जाते समय उसने अपने मकान में गुप्त तलाश रखने वाले सात मनुष्यों को कुछ शिक्षा देकर रख दिया। दुष्ट परिव्राजिका ने अपने मनुष्यों के द्वारा एक सुवर्ण कुड़छी वहाँ एकान्त में किसी ठिकाने रखवादी। यहाँ तलाश रखने वाले मनुष्यों ने उसे लेकर सरस्वती के कहे अनुसार परिव्राजिका के घर में एकान्त में किसी वृक्ष के मूल में गाड़ दी। अब क्रम से सुवर्ण कुड़छी के लिये परिव्राजिका ने विवाद किया

और पहले की तरह वे दोनों राजसभा में गईं। बड़े अधिकारियों ने प्रथम की जैसे व्यवस्था की। प्रथम उसने सरस्वती के मकान में तलाश करवाई, किन्तु वहाँ से कुड़छी नहीं मिली, जिससे सरस्वती खेद पाती हुई परिव्राजिका के घर गई। सब लोगों के सामने प्रथम इधर उधर तलाश करके पीछे उस परिचित भूमि में से कुड़छी निकाल दी। उसी समय वहाँ सब के सामने निकली हुई कुड़छी देखकर परिव्राजिका शोकाग्र चित्त होकर मन में विचार करने लगी—'अनेक प्रकार के छल-कपट से जन्म से लेकर आज तक जो धन प्राप्त किया था, वह सब आज दुर्दैव के योग से एक साथ चला गया। कूटबुद्धि ऐसी मैंने पहले अनेक श्रेष्ठिपुत्रों को दास बनाया था, उस पाप के उदय से ही आज मेरा सब धन जा रहा है।' उसके बाद राजा और मन्त्री की आज्ञा से उसके मोती, मणि, सुवर्ण और सेवक आदि सब सरस्वती ने अपने आधीन कर लिये और दुष्ट आचरण वाली परिव्राजिका को अपना दास बना लिया और उसने पहले दास बनाये हुए सब श्रेष्ठिपुत्रों का अच्छे खान पान और वस्त्र आदि से सत्कार करके अपने अपने नगर जाने के लिये उनकी इच्छानुकूल विदा किया। पीछे देवदिन्न को कहा कि—हे महाभाग! तू मेरी दासी का भी दास है, इसलिये अभी घर के कार्य की व्यवस्था करने

के लिये तू यहाँ ही रह। मैं जब मेरे नगर जाऊँगा तब तुझको तेरे देश में लेता जाऊँगा।' ऐसा कह कर देवदिन्न को अपने पास रखा। अपने देश में लौट जाने की इच्छा से वह मन में कुछ ख़ुशी हुआ और उसके अनुसार वहाँ रह कर सब काम काज करने लगा। लोग कहने लगे कि—'अहो! इस श्रेष्ठिपुत्र सोमदत्त की कैसी अद्भुत कुशलता है? यह महा भाग्यशाली है कि जगत् को ठगनेवाली इस परिव्राजिका को भी उसने ठग लिया।' इस प्रकार सर्वत्र लोगों से प्रशंसा पाती हुई सरस्वती ने, अपनी इष्ट सिद्धि हो जाने से, लाये हुए किराने को बेच कर बहुत मूल्यवान् मणि, मोती आदि वस्तुओं से अपना जहाज़ भरा। पीछे उसने अपने देश जाने की इच्छा से राजा के पास विदाई माँगी। उस समय दान और सम्मान पूर्वक उसका बहुत सत्कार करके राजा ने कूटबुद्धि को उसके पास से छुड़वाया।

पीछे वहाँ के श्रेष्ठियों का यथाविधि दान सम्मान से सत्कार करके सरस्वती अपने परिवार के साथ जहाज़ में बैठ कर अपने देश की तरफ़ चली। एक दिन रास्ते में अपने पुरुष वेष को त्याग कर और स्त्री के उचित दिव्य वस्त्रालंकार धारण करके, सरस्वती देवदिन्न से कहने लगी—'हे प्रभो! मुझको अभी आप पहचान सकते हैं?'

यह देख कर 'यह क्या ?' इस प्रकार मन में सम्भ्रान्त होकर वह बोला—'मैं कुछ भी नहीं समझ सकता।' तब वह कहने लगी—'जिसको आपने विवाह कर उसी समय उसके पिता के घर छोड़दी थी, वही मैं आपकी पत्नी सरस्वती हूँ। इतने समय तक मैं आर्हत धर्म का आचरण करती हुई मन में धैर्य धारण करके पिता और श्वसुर के घर रहती थी। जब आप दुःसह आपत्ति में आ पड़े तो पारिणामिक बुद्धि वाले श्वसुर ने मुझे आपके पास भेजी। उसके बाद जो हुआ वह सब आप जानते ही हैं।' इस प्रकार सुनकर श्रेष्ठिपुत्र ने अपनी पत्नी को पहचान लिया। सर्वाङ्ग रोमांचित होकर और आनन्द से अत्यन्त पुष्ट हो गया, परन्तु वह कुछ उदास मुख वाला होकर लज्जा के वश नीचे देख रहा था। उस समय, विनय और योग्य कार्य में कुशल वह कुलबालिका, लज्जा, विषाद और ससंभ्रांत को दूर करने के लिये कहने लगी—'हे स्वामिन् ! कपट से जीतकर उस परिव्राजिका ने आपको अपना दास बना कर रखा, उसका आपको लेशमात्र भी खेद नहीं करना चाहिये, कारण कि किसी समय महात्मा भी भाग्यवश से नीचे गिर जाते हैं, परन्तु वे अपने सत्कर्म के बल से कुछ समय में पहले से अधिक उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं कहा है कि—

जइ वि गुरुवल्लिगहणे
भग्गकम्मो कहवि केसरी जाओ।
तह वि हु मत्तगयाणं
पुणो वि कुम्भत्थलं दलइ॥

"कदाचित् बड़ी लताओं के गहन कुञ्ज में केसरीसिंह भग्न पराक्रम होकर गिर गया हो तो भी उसमें से निकल कर मदोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थल को वह चूर्ण करता है।' जिससे सर्वोत्तम गुण वाले और सब कला में कुशल होने पर आप उसको जीत न सके तो क्या इतने से ही आप में अज्ञानपना आ गया? कहा है कि—

यदि नाम सर्षपकणं
शक्नोति करी करेण नादातुम्।
इयतापि तस्य किं न तु
पराक्रमग्लानिरिह जाता॥

"कभी सर्षव का दाना हाथी अपनी सूंड से न ले सके तो क्या इतने से ही उसके पराक्रम में हीनता आ गई?" और आप जिस दुष्टा को न जीत सके, उस दुष्टा को मैंने जीत लिया, तो क्या सर्वोत्तम ऐसे आपसे मेरे में अधिकता आ गई? कहा है कि—

यत्तमो भूमिसद्मस्थं नाशकृद्धर्त्तुमंशुमान् ।
न तस्मादतिशेते हि दीपस्तदपि नाशयन् ॥

'गुफा में रहे हुए अन्धकार को नाश करने के लिये सूर्य असमर्थ होता है और दीपक उसका नाश कर देता है तो उससे क्या वह सूर्य्य से बढ़ जाता है?' इस प्रकार के मनोहर वचनों से उसको आनन्दित करके, सरस्वती ने उसके दास योग्य वेष को उतरवा कर श्रेष्ठि के योग्य वेष पहनाया। उस समय जहाज के सब मनुष्यों का अधिपति होकर मेघ से मुक्त सूर्य की भांति वह अधिक प्रकाशने लगा॥

अब विनय पूर्वक पति की सेवा करती हुई और शृङ्गाररस की सरिता तुल्य सरस्वती के साथ आनन्द करता हुआ उसने अपने मन में रही हुई मलिनता को छोड़ दी और मन में हर्षित होकर अपने मातपिता को मिलने की इच्छा वाला वह चतुर कुमार क्रमशः सुखपूर्वक अपने नगर समीप आया। उस समय पुत्र और वधू के शुभ आगमन से सेठ बहुत खुश हुआ। अब अपने हाथ में बड़ी भेंट ले कर राजा को प्रणाम किया और उसने अपने पुत्र के आगमन का समाचार निवेदन किया राजा ने भी प्रसन्न होकर उसके प्रवेश महोत्सव करने के लिये

छत्र, चामर, वाजिंत्र और पट्टहस्ती आदि सेठ को दिलवाये। उसके बाद राजा की कृपा से प्राप्त हुए वे सब लेकर सेठ अपने स्वजन श्रीमन्तों के साथ बड़ा आडम्बर पूर्वक अपने पुत्र के सम्मुख गया। वहाँ स्नेह से नमन करते हुए पुत्र को आलिंगन करके और अपने वचन को सिद्ध करने वाली विकस्वर मुखकमल वाली और दूर से विनयपूर्वक नमन करती हुई पुत्र-वधू को स्नेहदृष्टि से देख करके वह सेठ संसार सुख के सर्वस्व का अनुभव अपने मन में करने लगा। अब वाजा बजाने वालों से अनेक प्रकार के बाजिंत्र बजवाते हुए, लीलापूर्वक वारांगनाओं का नृत्य कराते हुए, पीछे मंगल गीत गाने वाली कुलीन स्त्रियों से गीत गवाते हुए, चौतरफ भाट चारणों के द्वारा जय २ शब्दों से प्रशंसा कराते हुए दीन दुःखी याचकों पर सुवर्ण और वस्त्रों को मेघ की जैसे बरसाते हुए, और पूर्व भव के पुण्योदय से लोगों से प्रशंसा पाते हुए अपने पुत्र के मस्तक पर छत्र धारण कर और वधू के साथ हाथी पर बिठला कर बड़े आडम्बर सहित हर्षित होते हुए सेठ ने नगर में प्रवेश करवाया। पीछे घर आये हुए और प्रिया सहित प्रणाम करते हुए देवदिन्न पर चिरकाल के वियोग से दुःखी हुई माता ने हर्षाश्रु का सिंचन किया। प्रियंगु और सुन्दर सेठ के घर सत्पुत्र के जन्म की जैसे आठ दिन तक आनन्द पूर्वक वर्धापन महोत्सव होता रहा।

अब एक दिन अवसर पाकर और मस्तक पर अंजली लगा कर सरस्वती देवदिन्न को विनय पूर्वक इस प्रकार विनति करने लगी—'हे स्वामी! परणाकर कोई भी कारण से पति ने उसको तुरन्त छोड़ दी, जिससे उसके वियोग से दुःखित होकर इस बेचारी ने दीक्षा लेली, इस हेतु से लोग मेरा ज्ञानगर्भित वैराग्य होने पर भी दुःखगर्भित स्पष्ट ही मानेंगे, इस कारण से और बालचापल्यता से आपके पास मैंने जो उद्धृत वाक्य कहा था, उसको भी एक वार सिद्ध करके ही बतलाऊँ ऐसी इच्छा होने से इन दो कारणों से, बाल्यावस्था से तत्त्व का बोध होने से मेरा हृदय विषयों से विरक्त था और चारित्र लेने की इच्छा होने पर भी इतना समय में व्रत ग्रहण न कर सकी। अब पुण्योदय से सब अन्तराय दूर हो गये हैं, इसलिये हे स्वामिन्! अब चारित्र लेने की मुझे आज्ञा दो।' इस प्रकार उसका वचन सुनकर जिसके साथ अत्यन्त दृढ़ प्रेम बाँधा हुआ है ऐसा देवदिन्न मन में बहुत खेद पाकर सरस्वती को कहने लगा—'हे प्रिये! दुर्विदग्ध (मूढ़) ऐसे मैंने विनय और योग्य स्वभाव वाली तेरी जैसी स्त्रीरत्न को इतने समय दुर्विनीति मानली, इसलिये मुझे धिक्कार है। अज्ञान अँधकार से अँधे हुए मेरे पास फिर दीपक की तरह इस समय तू अपने आप प्रकाशित हुई,

हे गुणवती कान्ते ! इस प्रकार अपने आप प्रकाशित होकर दृढ़ता युक्त प्रेमी का अभी अकस्मात् तू क्यों त्याग करती है ? हे प्रिये ! यह तेरा विचार प्रशंसनीय है, परन्तु तपश्चरण तो चतुर्थ आश्रम में उचित है। तांबूल में जैसे शक्कर का चूर्ण योग्य नहीं है, वैसे यह भी यौवनावस्था में योग्य नहीं है। हे प्रिये ! प्रायः सब तीर्थंकर और तत्वज्ञ पुरुषों ने भी यौवनावस्था में विषय-सुख भोग करके वृद्धावस्था में व्रत लिया है। इसलिये अभी स्वेच्छा पूर्वक भोग भोगकर वृद्धावस्था में अपने दोनों एक साथ व्रत लेंगे।' इस प्रकार पति के अनुरोध से सरस्वती अपने तत्वज्ञ होने पर पूर्व के भोगफल कर्म को भोगने के लिये गृहस्थाश्रम में रही। परन्तु संसार में रहने पर भी सुधासदृश सद्बोध से उस पतिव्रता ने अपने पति को प्रतिबोध देकर उसको शुद्ध आर्हत धर्म सिखलाया, जिससे क्रमशः वह हृदय का शुद्ध और श्रेष्ठतर परिणाम के योग से आवश्यक क्रिया में उद्यत होकर निश्चय श्रावक हुआ। कहा है कि—

'सामग्गि अभावे वि हु वसणे
वि सुहे वि तहा कुसंगेवि।
जं न हायइ धम्मो निच्छयओ
जाण तं सड्ढं॥'

'सामग्री के अभाव में, दुःख आने पर, सुख में और कुसंगत में भी जो धर्म को नहीं छोड़ता, उसको ही निश्चय से श्रावक जानना।' यौवनावस्था में भी आस्तिकपन से जिसका विश्वास धर्मानुष्ठान में ही रहता है और निरन्तर पाप से जिसका हृदय भय पाता है, ऐसे पुत्र और पुत्र-वधू के संसर्ग से एवं उनके उपदेश से भी प्रियंगुसेठ के हृदय में पूर्व जन्म के अत्यधिक पापों के कारण, लेशमात्र भी धर्म-श्रद्धा नहीं हुई और उसके पहले कहे हुए जो २ दूषण थे उनमें से एक भी अवस्था परिपक्व होने पर कम नहीं हुआ। वह धन धान्य मणि सुवर्ण रौप्य और कुप्य आदि में अत्यन्त मूर्च्छित होता हुआ और मोह से कामभोगों में निरन्तर तीव्र इच्छा रखता हुआ और सर्वदा 'मेरा मेरा' इस मन्त्र का जाप जपता हुआ धर्म या सत्कर्म का नाम भी नहीं लेता था। चार प्रकार के आर्त्तध्यान से और किसी २ समय रौद्रध्यान से प्रियंगुसेठ का समग्र जीवन ऐसे ही निष्फल व्यतीत हुआ। अन्त समय में भी अपने भारी कर्म के उदय से धर्म या प्रभु का स्मरण किये विना मर कर वह विकलेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ बहुत पाप करके वह दुर्गति में गया। ऐसे नीचे २ गिरता वह एकेन्द्रिय योनि में जायगा। वहाँ जीवों के पिण्ड रूप पाँच स्थावर कायों में वारम्वार उत्पन्न होकर

अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी होकर वह बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

पिता की मृत्यु पीछे शोकसागर में निमग्न हुए देवदिन्न ने परलोकवासी पिता की उत्तर क्रिया की। उसके बाद स्वजनों ने मिल कर उसका शोक निवारण किया और प्रियंगुसेठ के स्थान पर देवदिन्न को स्थापन कर उसके पर कुटुम्ब के भार का आरोपण किया। वह पाप भीरु, दाक्षिण्यवान्, सत्यशील, दया का भण्डार, शुद्ध व्यवहार में तत्पर, देवगुरु की भक्ति करने वाला, सर्वज्ञप्रणीत धर्म से श्रद्धा वाला, निष्कपट हृदय वाला, सद्बुद्धि वाला और क्रम से बढ़ती हुई बड़ी सम्पत्ति वाला हुआ। धर्महीन पिता से उत्पन्न हुआ ऐसा धर्मचुस्त देवदिन्न को देखकर लोग कहने लगे—'अहो! विषवृक्ष से यह अमृत जैसा स्वादिष्ट फल उत्पन्न हुआ!' समान स्नेह और शीलवाले देवदिन्न और सरस्वती को सुखपूर्वक अनेक प्रकार के दिव्य भोग भोगते हुए रूप और सौभाग्य से सुशोभित तथा विनययुक्त मानो शरीरधारी पुरुषार्थ हो ऐसे चार पुत्र हुए।

एक दिन नगरवासियों के पुण्योदय से आकर्षित होकर सम्यक्क्रिया और ज्ञानरूप धनवाले श्री युगन्धराचार्य वहाँ पधारे। जैसे प्यासे मनुष्य निर्मल जल से भरे हुए सरोवर

के पास जाते हैं, वैसे पुण्यवन्त नगरवासी उत्साह से उनके पास आये। श्रद्धालु हृदयवाला और चतुर देवदिन्न भी सरस्वती के साथ उनके वचनामृत का पान करने को आया। कषायरूप दाह की शान्ति, आशारूप तृषा का नाश और पापरूप मल का प्रक्षालन करने के हेतु से जंगम भावतीर्थ रूप आचार्य ने इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया— 'स्वर्ग और मोक्ष के सुख देने में साक्षी (गवाह) रूप ऐसा दयामय शुद्ध धर्म, भव से डरने वाले सुज्ञ मनुष्यों को सब प्रकार से आराधन करना चाहिये। जो कार्य करने में दूसरे प्राणियों को दुःख हो ऐसे कार्य मन वचन और काया से कुशलार्थी मनुष्यों को कभी नहीं करना चाहिये। दूसरे का वध बन्धन आदि पाप एक बार भी करने में आवे तो उसका जघन्य विपाक (फल) दस गुणा होता है और तीव्र या तीव्रतर द्वेषरूप परिणाम के वश से किया हो तो उसका विपाक क्रम से बढ़ता २ असंख्य गुणा अधिक होता है। आगम में भी कहा है कि—

'वहमारणअब्भक्खाण-
दाणपरधणविलोवणाइणं।
सव्वजहन्नो उदओ
दसगुणीओ इक्कसिकयाणं॥'

'तिव्वयरे उ पएसे सयगुणिओ
सयसहस्सकोडिगुणो ।
कोडाकोडिगुणो वा हुज्ज
विवागो वहुयरो वा ॥'

'वध, मारण, मिथ्या अपराध देना, और दूसरे की थापन रख लेना आदि पाप एक वार करने से उसका सबसे जघन्य उदय दश गुणा होता है। परन्तु तीव्रतर द्वेष के करने से उसका विपाक सौ गुणा, लाख गुणा, कोटि गुणा और कोटा कोटी गुणा होता है या उससे भी अधिक गुणा होता है।' दूसरे पर, द्वेष से करने में आया हुआ वधादि पाप तो दूर रहा, परन्तु कपटगर्भित धर्मोपदेश भी आगे महा दुःखकारक होता है। जैसे छल कपट गर्भित धर्मोपदेश भी, अपनी भाभी को दुःख का हेतु हो जाने से, धनश्री को अन्त में दुःखकारक हुआ। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है—

अनेक श्रीमंत श्रावकों से व्याप्त ऐसा वसंतपुर नाम के नगर में शुद्ध व्यवहार वाला, वाणी में कुशल, त्यागी, भोगी, वुद्धि का भण्डार, समस्त दुष्कर्मों से विराम पाया हुआ और धन धान्य की समृद्धि वाला परम श्रावक

धनेश्वर नाम का सेठ रहता था। शीलादि सद्गुणों से सुशोभित और श्रेष्ठ भक्ति वाली लक्ष्मी नाम की 'उसको स्त्री थी। वह स्त्री दिव्यरूप की शोभा से निश्चय लक्ष्मी ही थी। पूर्व पुण्य के प्रभाव से दृढ़ स्नेह बन्धन वाले उस दम्पति ने दिव्य भोग भोगते हुए कितना ही काल व्यतीत किया। एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में कहीं उच्चारण, होता हुआ यह श्लोक उन्होंने शय्या में बैठे हुए सुना—

'यत्र न स्वजनसंगतिरुच्चै-
यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि।
यत्र नैव गुरुगौरवचिन्ता,
हन्त तान्यपि गृहाण्यगृहाणि॥'

'जहां स्वजनों की सत्संगति न हो, जहां छोटे २ बालक न हों और जहाँ बड़े का मान रखने की चिन्ता न हो, अहा! खेद को बात है कि वह घर भी घर नहीं है।' 'जिसको पुत्र न हो उसका घर शून्य, जिसको बन्धु न हो उसकी दिशाशून्य, मूर्ख का हृदय शून्य और दरिद्र को सर्व शून्य है। ऊँचे से कूदता हुआ, नीचे गिरता हुआ, स्खलित गति से चलता हुआ, हँसता हुआ और मुख में से लार वमन करता हुआ ऐसा पुत्र किसी भाग्य-

वती स्त्री के ही गोद में होता है।' ऐसे अर्थ वाला श्लोक सुन कर, एकान्त सुख स्वाद होने पर भी, उस समय से पुत्र न होने के कारण उनका मन अतिशय दुखी रहने लगा। शक्कर के चूर्ण के स्वाद में आई हुई कंकरी जैसे दुःसह लगती है वैसे ही वह दुःख उनको, अत्यन्त सुख के भोगों में भी असह्य हो पड़ा। पुत्र की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के देव देवियों की पूजा और भोग आदि धरने का अन्य मतावलम्बियों ने वारंवार उपदेश दिया परन्तु शुद्ध जैनपन्थ से सम्यक्त शुद्ध होने के कारण, उनका मेरु समान निश्चल मन लेशमात्र भी चलायमान न हुआ। तीर्थंकर की भक्ति, तप तथा दीन दुःखीजनों को दान आदि सत्कार्यों से वे क्रम से अपने पूर्व के अन्तराय कर्म का क्षय करने लगे।

एक दिन जिनेश्वर भगवंत की पूजा करके उनके आगे अरिहंत पद के ध्यान में लीन होकर कायोत्सर्ग से रहा हुआ और अर्हद्भक्ति के प्रभाव से जिसके अशुभ कर्म क्षय हो गये हैं ऐसा उस सेठ को 'अब तेरी अभीष्ट सिद्धि समीप है।' इस प्रकार स्पष्ट बोलता हुआ कोई देव उसके सत्कर्मों से प्रेरित होकर वहाँ आया और पके हुए दो आम्रफल और एक उसकी गुठली तुष्ट होकर अर्पण की। उन वस्तुओं को देख कर सेठ हर्षित होता

हुआ. विचार करने लगा—'निश्चय यह कोई साधर्मिक देव मेरे पर प्रसन्न हुआ है। आज मेरे हृदय के दुःख को दूर करने के लिये दो पुत्र और एक पुत्री की सूचक यह वस्तु मुझको प्रदान की है।"

पीछे विशेष प्रकार हर्षित हृदय से सद्धर्म का आचरण करते हुए उनको क्रम से दो पुत्र और एक पुत्री ऐसे तीन सन्तान उत्पन्न हुईं। 'यह मेरे घर के धन का स्वामी हुआ' इसलिये सेठ ने प्रथमपुत्र का नाम धनपति रक्खा। और उसके नाम के अनुसार पीछे की दो सन्तानों का क्रमशः धनावाह और धनश्री ऐसे नाम रक्खे। यथासमय सेठ ने अच्छे उपाध्याय के पास उन तीनों को योग्य-कलाएँ सिखलाईं। पीछे पद्मश्री और कमलश्री नाम की दो वणिक् कन्याओं के साथ बड़े महोत्सव से उन दोनों का सेठ ने विवाह किया और सुंदर सेठ के रूप और सौभाग्य वाले पुत्र के साथ यौवनवती धनश्री को भी विवाह दी।

धनश्री दस दिन आनन्द पूर्वक ससुराल में रह कर मात पिता को मिलने की उत्कंठा से पिता के घर आई। इतने में तत्काल उत्पन्न हुई किसी तीव्र और असाध्य व्याधि से दुर्भाग्य के कारण अकस्मात् उस का पति मर गया। अपने पति के मरण का भयंकर समाचार सुन कर तथा हृदय में

दुःखाकुल होकर विलाप करती हुई धनश्री इस प्रकार विचार करने लगी—'अँगूठे पर रखी हुई अग्निज्वाला की तरह अत्यन्त दुःसह बालवैधव्य की वेदना मुझे किस प्रकार सहन करनी ? इसलिये ज्वाला से व्याप्त अग्नि में आज ही इस शरीर को होम कर, इस बड़े दुःख की मैं एक साथ समाप्ति करूँ।' उस समय शोकार्त्त हो कर आंखों में से अश्रुपात करते हुए स्वजनों के सामने वह अपने पिता को इस प्रकार कहने लगी—'हे तात ! आज अभी ही प्रसन्न होकर मुझको काष्ट मँगवा दो कि जिससे मैं अग्नि में जल मरूँ, कारण कि पति के मार्ग का अनुसरण करने में सतियों को लाभ ही है।' पीछे पिता अपनी गोद में उसको बैठला कर गद्गद् शब्दों से कहने लगा—'हे वत्से ! तत्त्वज्ञ (समझदार) मनुष्यों को ऐसा साहस करना योग्य नहीं है, ऐसा मनुष्य जन्म और शुभज्ञान, व्यर्थ कैसे खो दिया जाय ? हे मुग्धे ! मनुष्य भव में महान् कर्मों का क्षय एक क्षण में भी हो सकता है।' कहा है कि—

'जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिगुत्तो खवेइ उस्सासमित्तेण ॥

'अज्ञानी जिस कर्म को बहुत करोड़ वर्षों में क्षय करता

है, उस कर्म को ज्ञानी मनुष्य तीन गुप्ति सहित एक श्वास मात्र में क्षय कर सकता है।' 'हे वत्से! अग्निप्रवेशादि अति दुःसह कष्टों से भी प्राणी जो शुभ आशय वाला हो तो केवल व्यन्तर गति को पाता है।' आगम में भी कहा है कि—

'रज्जुग्गह-विसभक्खण—जल,
जलणपवेसतिन्हछुहदुहिओ।
गिरिसिलपडणाउ मया,
सुहभावा हुंति वन्तरिया॥

'रस्सी से गले में फाँसी खावे, विषभक्षण करे, जल या अग्नि में प्रवेश करे, तृषा या क्षुधा से मरे और पर्वत के शिखर पर से झम्पापात करे उस समय यदि शुभभाव रहे तो प्राणी व्यन्तर होता है।' जैसे मन्त्रवादी लोग पात्र में विष को नियमित (आधीन) करके पीछे मन्त्र के प्रयोग से उसको मारता है, ऐसे तप रूप अग्नि से आत्मा को वश करके सुज्ञ पुरुष शरीर को अंकुश में रखता है। हे शुभे! अग्नि के दाह से भयभीत हुई आत्मा के तत्काल उड़ जाने बाद निर्जीव शरीर को जलाने से क्या फायदा? काष्टभक्षण से स्त्रियों का जो पति के मार्ग का अनुसरण

है, वह भी, व्यवहार मात्र से है, वस्तुतः तो उसका परिणाम कुछ नहीं है। स्नेह के साथ मरते हुए जीव भी कर्म की परवशता से परलोक में भिन्न २ गति पाते हैं अर्थात् एक जगह उत्पन्न नहीं होते। कहा है कि—

'रूदता कुत एव सा पुनर्न,
शुचा नानुमृतेन लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभि-र्गतयो,
भिन्न यथा हि देहिनाम्॥'

'वह कान्ता अब रुदन करने से, शोक करने से या उसके पीछे मर जाने से भी कहीं मिलने वाली नहीं है, कारण कि कर्म वश से परलोकवासी प्राणियों की भिन्न २ गति होती है।' 'इसलिये हे वत्से! इस बाल मरण के अध्यवसाय को हृदय से छोड़ कर श्रद्धा पूर्वक सब दुःखों का औषधरूप ऐसा आर्हत धर्म का आचरण कर और यथा योग्य दान देती हुई, उज्वल शीलव्रत धारण करती हुई, शक्ति के अनुसार तप करती हुई और शुभ भावना रखती हुई सुख पूर्वक यहाँ रहे। यहाँ अपने घर निरन्तर रहने से और अधिक परिचय से तेरी अवज्ञा होगी ऐसी लेशमात्र भी शंका मत रखना। कारण कि तू जो देगी

यही सब मेरे घर में खान पान आदि होंगे और वही पहेंरेंगे। तू जो शुभाशुभ करेगी वे सब हम सब को प्रमाण है।' इस प्रकार के सुधासमान शीतल वचनों से आश्वासन देकर सेठ ने पुत्री को मरण के अध्यवसाय से रोकी।

पीछे पिता के घर रह कर संविग्न मन से श्रद्धापूर्वक धनश्री निरंतर सावधान होकर धर्मकार्य करने लगी। कितनेक समय बाद संतान पर बहुत प्रेम रखने वाले और जन्म से श्रावक धर्म के आराधक उसके मातपिता स्वर्ग चले गये। 'अरे! व्यवहार की विषमता से मात पिता से रहित और अपने स्वार्थ में ही तत्पर ऐसे दोनों भाई और भाभियों के आगे मेरा निर्वाह कैसे होगा?' ऐसे संकल्प विकल्पों से दुःखी होकर वह रोने लगी। परन्तु दोनों भाइयों ने मा बाप का अवसर योग्य रीति से करके संबंधियों के समक्ष हृदय के प्रेम से धनश्री को इस प्रकार कहने लगे—'हे बहन! आप ही अब हमारे घर में माता की जैसे मुख्य हैं, जिससे अब यथायोग्य सब कार्यों में आपकी भौजाइयों को लगाना और सब आरम्भ समारंभ से मुक्त होकर छः प्रकार के आवश्यक में तत्पर होकर सुपात्र दान देते हुए आपको अपना जन्म कृतार्थ करना।' इस प्रकार के विनय और योग्यता गर्भित भाइयों के वचनों से, वह भाभी आदि स्वजनों में अत्यन्त माननीय हुई।

अब आस्ते २ धनश्री ने शोक को छोड़ दिया और वह हमेशा यथायोग्य सब कार्यों में अपनी भाभियों को लगाने लगी। भौजाइएँ भी श्रेष्ठकुल और शीलवती होने से उसको निरन्तर अपनी माता समान मान कर उसके ऊपर अत्यन्त स्नेह भाव रखने लगीं। वे तीनों प्रतिक्रमणादि करके तत्त्व की जिज्ञासा से परस्पर हमेशा धर्मगोष्ठी करती थीं।

अब दीन दुःखीजनों को अनुकंपादान, सुपात्रों को निर्दोष और भूषण रूप श्रद्धापूर्वक दान तथा धर्मस्थान में जाते आते समय याचकों को उचितदान, इस प्रकार अपनी इच्छानुकूल दान देती हुई धनश्री ने सर्वत्र लोक में प्रशंसा पायी। एक दिन मनुष्यों के मुख से ननंद की विशेष प्रशंसा सुनकर स्नेहवाली होने पर भी दोनों भौजाइयें मन में कुछ खेद पूर्वक विचारने लगीं—'ननंद का इस घर के साथ ऐसा क्या सम्बन्ध है कि जो यह धन का इतना खर्च करती है?' पीछे अपने घर के समीप रहने वाली स्त्रियों के आगे भी कुछ ईर्ष्या से ऊँच नीच तिरस्कार युक्त वचन वे बोलने लगीं।

अपनी भाभियों की परम्परा से ये बातें सुनकर वह खेद पूर्वक विचार करने लगी—'प्रायः सब जगह भाभिएँ ऐसी ही होती हैं, उनके वचनों से दुःखी होकर मन में

कौन बुरे भाव लावे ? परन्तु मेरा दान और काम भाइयों को पसन्द न पड़ता हो तो पीछे घर की इतनी सारसँभाल मैं वृथा किस लिये करूं ? यदि भाइयों को वह पसन्द हो तो भाभियों के व्यर्थ बोलने से क्या ? इसलिये भाइयों के हृदय में मुझ पर कितनी श्रद्धा है उसकी परीक्षा करूं।'

उसके बाद एक दिन सन्ध्या समय किसी कारण विशेष से उसका बड़ा भाई घर पर पास में ही था, उस समय धर्म विचार करती हुई धनश्री ने पद्मश्री को कहा कि—"हे शुभे ! स्त्रियों का तो यही धर्म है कि सब प्रकार से अपनी साड़ी शुद्ध रखे, दूसरा बहुत बोल २ करने से क्या ?" बहिन के ऐसे वचन सुनकर बड़ा भाई मन में खेद लाकर विचारने लगा—'निश्चय यह मेरी स्त्री कहीं भ्रष्ट हुई मालूम होती है, नहीं तो सत्य, हित करने वाली, निर्दोष और परिमित बोलने वाली, सुशीला और कुशल मेरी बहिन उसको इस प्रकार का उपदेश क्यों देती ? अहो ! कष्ट से प्राप्त किये हुए धन से इस व्यभिचारिणी का पालन पोषण करते इतना समय मैंने वृथा असतीपोषण किया। जब वह दोष से दुष्ट हो गई तो पीछे सुरूप वाली होने पर भी मुझे इसका क्या प्रयोजन ?' इस प्रकार अत्यन्त विरक्त होकर वह अपने निवास घर में गया। समय पर वहाँ आई हुई पद्मश्री को क्रोधित हो वह इस

प्रकार कहने लगा—'हे महापापिनी ! बाहर निकल, मेरा स्पर्श मत कर।' ऐसे क्रोधयुक्त वचनों से तिरस्कार पाकर वह वियोगिनी अबला रुदन करती हुई 'मैंने क्या पाप किया कि जिससे पति नाराज़ हुए' ऐसा विचारने लगी। याद करने पर अपना कोई भी अपराध याद न आने से रात्रि में फक्त पृथ्वी पर ही लोटती हुई वह अत्यन्त दुःख अनुभव करने लगी। जिसको अत्यन्त अधैर्य उत्पन्न हुआ है ऐसी वह थोड़े पानी की मछली की तरह रात्रि के तीन प्रहर को सौ प्रहर से भी अधिक मानने लगी। प्रभात के समय उसका निस्तेज़ मुख देखकर धनश्री ने उसको पूछा—'हे सुभ्रु ! आज तू उदास क्यों मालूम होती है ?' सरल ऐसी पद्मश्री ने रात का यथार्थ वृत्तान्त उसको कहा। पहले के संकेत के अनुसार मन में हँसती हुई धनश्री उस को आश्वासन देती हुई कहने लगी—'हे मुग्धे ! तू खेद नहीं कर, तेरे पर तेरा पति क्रोधित हुआ है, तो भी मैं उसको ऐसी युक्ति से समझाऊँगी कि वह तेरे पर फिर पूर्व की तरह स्नेह करेगा।

अब अपने घर के वृत्तान्त से जिसके मन में अत्यन्त अधैर्य उत्पन्न हो गया है, ऐसे भाई को योग्य अवसर में कोमल वचनों से धनश्री ने पूछा—'हे भ्रात ! आज तुम्हारे मुख पर किस कारण से श्यामता छा रही है ?' विश्वासु

ऐसी अपनी वहिन के आगे अपनी स्त्री का दुराचरण कहा—पीछे धनश्री भाई को कहने लगी—'पद्मश्री को आप इस प्रकार की किस कारण से कहते हैं ? दूज के चन्द्रमा के भीतर लांछन की जैसे यह असम्भव है। यदि आपने ऐसा देखा हो या सुना हो तो कहो, अन्यथा ऐसी सती स्त्री को दोष देना योग्य नहीं है।' भाई कहने लगा—'वहिन ! तू सब जानती है तो मेरे आगे क्यों छुपाती है ? उस दिन सायंकाल में अपनी साड़ी शुद्ध रखनी इत्यादि वचनों से उसको तू शिक्षा नहीं देती थी ? जैसे मार्ग भ्रष्ट को मार्ग कथन, स्खलित को आलम्बन वैसे शीलभ्रष्ट को शील की शिक्षा ये सब स्पष्ट ही है।' यह सुनकर धनश्री कुछ हास्य करके कहने लगी—'अहो ! आप बड़े विद्वान् होने पर भी आपकी कितनी मुग्धता है कि इस प्रकार के आत्मगोष्ठी के वचनों में भी व्यंग्यार्थ समझ लिया। हे भ्रात ! दोनों लोकों को नाश कारक और आकाश की तरह प्रायः छुप न सके ऐसा दुःशीलता का पाप यह स्त्रियों के सब पापों में बड़ा पाप है। ऐसी बात करते २ साड़ी आदि का वाक्य तो मैंने आत्मगोष्ठी करते समय स्वाभाविक कहा था। किन्तु उसको दुराचरण में प्रवृत्त मानकर उसकी निवृत्ति के लिये नहीं कहा था। हे भाई ! पतिव्रता ऐसी पद्मश्री में दूध में पूरा (जीव विशेष) की तरह लेशमात्र भी दूषण की व्यर्थ शंका नहीं करो।' धनपति

बहिन के वचनों पर विश्वास लाकर और शंका का त्याग कर अच्छे विकल्पों से पहले की तरह पद्मश्री पर अधिक प्रीति करने लगा।

एक दिन उसी प्रकार धनावह जब कोई कार्य प्रसंग से नजदीक में था, उस समय धनश्री ने धर्म विचार करते २ उसकी पत्नी कमलश्री को कहा—"हे शुभे! जनरंजन करने के लिये बहुत वचन प्रपंचों से क्या? 'अपना हाथ पवित्र रखना' यही स्त्रियों का धर्म है।" ऐसा वचन सुन कर धनावह मन में खेद लाकर विचारने लगा—"अहा! निश्चय! मेरी पत्नी कुलवती होने पर भी उस को चोरी करने का स्वभाव मालूम होता है, ऐसा न हो तो यह बहिन उसको इस प्रकार की शिक्षा किस लिये दे? कारण कि कोई भी स्खलना बिना घोड़ा चाबुक का पात्र नहीं बनता।" इस प्रकार विचार करके पहले के जैसे दोष की शंका करके मन में दुःखी होकर उसने भी निवास स्थान में आई हुई अपनी प्रिया का तिरस्कार किया। जिससे अत्यन्त दुःखी होकर उसने भी उसी प्रकार रात्रि व्यतीत की। सुबह जब धनश्री ने पूछा तब उसने बीती हुई बात कही। यह सुन कर मृदु और शीतल वचनों से भाभी को आश्वासन दिया। 'मानो कुछ जानती न हो' ऐसे दंभ से एकान्त में वह धनावह को कहने लगी—'हे वीर!

आज अकस्मात् कमलश्री पर क्यों कोपायमान हुए हो?' वह कहने लगा—'मेरे आगे उस तस्करी (चोरी करने वाली) का नाम भी मत ले।' धनश्री कहने लगी—'हे भाई! जिसने एक कण २ करके आपके घर में संग्रह किया है, उसमें यह असंभाव्य की संभावना कैसे करते हैं? चन्द्रमा में उष्णता, सूर्य में अंधकार और पानी में अग्नि की संभावना की जैसे इसमें लेशमात्र भी चोरी करने का दोष हो ऐसा मैं नहीं मान सकती।' वह फिर इस प्रकार कहने लगा—'जो इसमें चोरी का स्वभाव न होता तो 'हाथ पवित्र रखना' ऐसा उपदेश उस को किस कारण से दिया?' धनश्री कुछ हँस कर बोली—'हे बंधो! अपने काम काज में व्यग्र हुआ पुरुष तो घर में किसी समय ही आता जाता है, परन्तु घर की रक्षा में रखी हुई स्त्री तो सारे दिन घर में ही रहती है, कभी उसको छोड़ती नहीं है, वह भी जब घर को लूटेगी तो पीछे वहाँ उसकी रक्षा करने वाला कौन रहेगा? जब कुत्ते का काम ऊँट करेगा तो छींका कहाँ बँधेगा? हे भ्रात! पुरुषों को भी चोरी करना निषेध है और स्त्रियों को तो विशेष प्रकार से निषेध है। इस प्रकार सामान्य बात करते समय उस दिन मैंने ऐसा कहा था, दूसरा कोई कारण नहीं था।' बहिन के ऐसे वचनों से दोष की शंका से रहित होकर

धनावह प्रथम के जैसे मधुर आलाप से पत्नी को प्रसन्न करने लगा ।

अब धनश्री ने निर्णय किया—'मेरा किया हुआ शुभ या अशुभ स्नेह के वश से मेरे दोनों भाई सब शुभ ही मान लेते हैं ।' ऐसा विचार करके धनश्री भौजाइयों के ऊँच नीच वचनों का अनादर करके पहले के जैसे दानादि पुण्यकर्म करने लगी । परन्तु दूसरे को दुःख के हेतु भूत उस मायागर्भित उपदेश से धनश्री ने दुःख से भोगने लायक, दृढ़ और उत्कृष्ट कर्म बाँध लिया । अन्त में धनपति आदि पांचों ही मनुष्य संविग्न मन वाले होकर और निष्पाप (शुद्ध) दीक्षा अंगीकार करके स्वर्ग में गये । वहाँ भी पूर्वभव के संस्कार से परस्पर स्नेहार्द्र मन वाले होकर बहुत काल तक उन्होंने दिव्य कामभोग भोगे ।

यहाँ भरतक्षेत्र में अलकापुरी के साथ स्पर्द्धा करने वाला और वैभव ऋद्धि से प्रतिदिन वृद्धि पाता हुआ ऐसा साकेतपुर नाम का नगर था । वहाँ बड़ी कीर्त्ति वाला और लक्ष्मी का स्थान अशोक नाम का सेठ रहता था । उसके प्रीति वाली और सती श्रीमती नाम की पत्नी थी । अब देव के भव में भोगते हुए बाकी रहे हुए सत्कर्म के प्रभाव से वहाँ से च्यव कर, दोनों भाइयों के जीव क्रम से उस सेठ के घर पुत्रपन से उत्पन्न हुए । उनमें प्रथम सागरदत्त

और दूसरा समुद्रदत्त के नाम से प्रसिद्ध हुए। धनश्री स्वर्ग से च्यवकर हस्तिनापुर नाम के नगर में शंखसेठ की लक्ष्मी नाम की स्त्री से पुत्री रूप उत्पन्न हुई, और उसका सर्वाङ्गसुन्दरी नाम रखा। अर्थ सम्पन्न नाम वाली वह चन्द्रकला के जैसे शनैः शनैः बढ़ती हुई कलाओं से सम्पूर्णता को प्राप्त हुई।

अब एक दिन व्यापार के लिये अशोक श्रेष्ठी हस्तिनापुर आया, वहाँ नेत्र को अमृतांजन समान सर्वाङ्गसुन्दरी को देखकर शंखश्रेष्ठी को कहने लगा—'हे श्रेष्ठिन! रूप, सौभाग्य और सौजन्य आदि गुणों से यह कन्या मेरे सागरदत्त नाम के बड़े पुत्र के लिये सचमुच योग्य है।' यह सुनकर योग्य सम्बन्ध के ज्ञान से हृदय में खुश होता हुआ शंखश्रेष्ठी ने तुरन्त ही उसका चरण धोकर के उसको सर्वाङ्गसुन्दरी दी। पीछे अशोक सेठ और शंखसेठ के किये हुए अनेक प्रकार के उत्सवों से सागरदत्त सर्वाङ्गसुन्दरी को परणा। वह भी पति के साथ साकेतपुर नगर में जाकर दश दिन वहाँ रही पीछे हर्षित होकर वह सती अपने पिता के घर आई।

अब एक दिन सागरदत्त अपने पिता की आज्ञा से मन में हर्षित होकर पत्नी को लाने के लिये ससुराल गया। वहाँ उच्च प्रकार के और सच्चे मन से किये हुए अतिथि-

सत्कार से खुश होकर वह बुद्धिमान ऊपर के कमरे में उसके शयन करने के लिये रखे हुए खण्ड में, पलंग पर जाकर के बैठा। उच्च प्रकार के शृङ्गार को धारण करके कामदेव की पताका के समान सर्वाङ्गसुन्दरी अभी जितने में वहाँ नहीं आई थी, इतने में उसके पूर्व के दुष्कर्म से प्रेरित होकर कोई कौतुकी व्यन्तर पुरुषाकार से गवाक्ष में मुख डाल कर 'प्रीतिपात्र सर्वाङ्गसुन्दरी आज यहाँ क्यों नहीं है?' इस प्रकार स्पष्ट अक्षर बोलकर तत्काल अदृश्य हो गया। सागरदत्त असम्भवित वृत्तान्त देखकर अतिशय खेद पाता हुआ इस प्रकार विचारने लगा—'सर्वाङ्गसुंदरी के रूप में मुग्ध हुआ कोई देव या विद्याधर निश्चय इसके साथ क्रीडा करने के लिये प्रतिदिन यहाँ आता है। यदि ऐसा न होता तो यह यहाँ आकर के इस प्रकार किस लिये पूछता? इसलिये मैं मानता हूँ कि यह मूल से ही कुलटा और कुलक्षणी है। जिस स्त्री का मन अन्यत्र आसक्त हो गया हो और जो मर्य्यादा को छोड़ गई हो ऐसी स्त्री को उसका पति सैकड़ों गुणों से भी प्रसन्न नहीं कर सकता।' कहा है कि—

'अकाण्डकोपिनो भर्त्तु—रन्यासक्ताश्च योषितः।
प्रसत्तिश्चेतसः कर्त्तुं शक्रेणापि न शक्यते॥'

'बिना कारण कोप करने वाले पति के और अन्य में आसक्त हुई स्त्री के चित्त को प्रसन्न करने के लिये इन्द्र भी शक्तिमान् नहीं होता।' तो अब शील से भ्रष्ट हुई इस स्त्री का मुख कौन देखे ? इसलिये इस पापिनी का इसी समय त्याग करके मैं चला जाऊँ।" इस प्रकार विचार करके अत्यन्त विरक्त होकर सागरदत्त उस पतिव्रता पत्नी का त्याग करके गवाक्ष के मार्ग से नीचे उतरा और शीघ्र ही अपने नगर की तरफ चला गया। घर आकर के सर्वाङ्गसुन्दरी का सब वृत्तान्त श्याम वदन से एकान्त में उसने अपने माता पिता को कहा। उन्होंने भी मीठे वचनामृतों से उसको इस प्रकार धीरज दिया—'हे पुत्र ! उस व्यभिचारिणी को कुल के कलंक के लिये यहां न लाया वह अच्छा किया, किन्तु अब 'मैं स्त्री विना क्या करूँगा' ऐसा मन में लेशमात्र भी वृथा खेद नहीं करना। कुलवती और रूप सौभाग्य आदि गुणों की खान ऐसी दूसरी कन्या हम तुझको शीघ्र ही परणावेंगे।' इस प्रकार अत्यन्त स्नेह सूचक मात पिता के वचनों को सुन कर सागरदत्त ने विधुरपन के खेद का त्याग कर कुछ शान्ति पाई।

अब पद्मश्री और कमलश्री का जीव स्वर्ग से च्यव कर कोशला नाम की बड़ी नगरी में नन्दन सेठ के घर

उसकी प्रीतिमती नाम की स्त्री की कुक्षी से लावण्ययुक्त शोभा वाली श्रीमती और कान्तिमती के नाम से पुत्री रूप में जन्मी। कामदेव के क्रीडा के वन समान और युवकों के मन को मुग्ध करने वाला, यौवनावस्था आने पर उनके शरीर का सौंदर्य कोई अजब ही प्रकार का हुआ। परस्पर गाढ़ स्नेह से एक दूसरे के वियोग को सहन करने में असमर्थ होने से, उनका पिता उन दोनों को एक गृहस्थ के घर ही देना चाहता था किन्तु सपत्नी (शोक्य) पन में स्नेह होने पर दुर्निवार वैर का संभव है, इसलिये वह श्रीमन्त ऐसा एक पति को देना नहीं चाहता था। अपनी पुत्री के गुण और शील आदि से उनके योग्य ऐसे दो भाई रूप वर की सर्वत्र शोध करता २ वह साकेतपुर आया। वहाँ अशोक सेठ के दोनों पुत्रों को देख कर और उनकी योग्यता का मन में विचार करके हर्षित होकर उसने सागरदत्त और समुद्रदत्त को अपनी दोनों पुत्रियां दीं। उनमें सागरदत्त शुभलग्न में श्रीमती को परणा और पुण्यात्मा समुद्रदत्त कान्तिमती को परणा। शील सौभाग्य से सुशोभित ऐसी अपनी २ पूर्वजन्म की पत्नियों को पाकर वे दोनों भाई गाढ़ प्रीति वाले हो कर बहुत सुखी हुए।

यहाँ सागरदत्त के जाने बाद आवास भुवन में आते

ही वहाँ अपने पति को नहीं देख कर सर्वाङ्गसुन्दरी बहुत खेद पाती हुई हृदय में विचारने लगी कि—'मेरे प्रियतम मेरे लिये यहाँ आये थे, वे इस समय सस्नेह और शील-वाली ऐसी मुझे अकस्मात् छोड़ कर कहाँ चले गये होंगे ? यदि मेरा स्नेह होने पर कभी मेरे पर दोष की शंका करके चले गये होंगे तो प्रथम कवल में ही मक्षिकापात जैसा हुआ। जब स्नेहालाप विना भी पति मेरे पर रोष वाले हुए तो अभी सरोवर खोदने पहले ही उसमें मगर का प्रवेश हुआ ऐसा मुझे मालूम होता है। मेरे हृदय में प्रस-रती हुई इन्द्रियसुख की आशारूप लता को दुष्ट दैव ने आज जड़ से उखाड़ दी। 'दुःशीलता को सूचित करने वाला इस पति के त्याग से, अरे! दैव! मुझे ऐसी दुःखित क्यों करता है ? किन्तु मूढ़ मनुष्य के उचित ऐसे दैव को उपालंभ देकर व्यर्थ बकवाद करने से क्या ? कारण कि मेरा पूर्वकृत कर्म ही यहाँ दोष पात्र है। सर-लता पूर्वक स्नेह रहित होकर मेरे पति इस प्रकार चले गये वह भी एक प्रकार से अच्छा ही हुआ, कारण कि ऐसा होने से धर्म के मूल निर्मल शील का पालन होगा। अहो! बिना अपराध ही मुझे मेरे पति ने त्याग दिया फिर माता पिता और सखियों को मैं मुख कैसे दिख-

लाऊँगी ?' इस प्रकार आर्त्तध्यान रूप खड्डे में गिरती हुई सर्वाङ्गसुन्दरी ने तुरन्त ही नीचे आकर यह वृत्तान्त लज्जापूर्वक अपने मात पिता को कह सुनाया। उन्होंने हृदय में दुःख पाकर अपने मनुष्यों के द्वारा सर्वत्र उसकी तलाश करवाई, परन्तु समुद्र में गुम हुए रत्न के जैसे उसका कहीं भी पता न लगा, जिससे 'हे वत्से! अधीर न हो; तेरा प्राणपति कार्य की शीघ्रता से कहीं चला गया होगा, परन्तु वह थोड़े दिनों में वापिस आवेगा।' इस प्रकार निरन्तर मधुर वचनों से वह अपनी पुत्री को आश्वासन देने लगा।

एक दिन साकेतपुर से आये हुए किसी मनुष्य के मुख से सुना कि—'पहले की स्त्री से विरक्त अशोक सेठ के बड़े पुत्र ने गुणों में सब स्त्रियों से अधिक गुण वाली किसी दूसरी स्त्री को परणा है।' तपे हुए रांगा की तरह कान को दुःखकारक ऐसा समाचार पिता ने सर्वाङ्गसुन्दरी को अपने गोद में बैठा कर कहा। 'अपने पति ने दूसरी स्त्री के साथ विवाह किया है' ऐसी बात सुन कर त्रुटित आशा वाली उस विवेक वाली सती ने इस प्रकार विचार किया कि—'अनन्त पापों के समूह इकट्ठे होने से प्राप्त होने वाला और पाप का मूल रूप यह स्त्री जन्म को धिक्कार है; कि जहाँ जन्म से इन्द्रिय सुख तो सब परा-

पीन ही होता है। फिर स्त्रियाँ पति के घर दासी की तरह मोह से निरन्तर नीच कार्य करती हैं, उन विषयों को भी धिक्कार हो। अहो ! विषयों की आशा और तृष्णा से चपल चित्त वाले होकर निर्भागी जीव इस अपार संसार में व्यर्थ ही क्लेश पाते हैं। तन्दुल मत्स्य की जैसे नहीं मिलने योग्य ऐसे भोगों की प्रार्थना करते २ कितनेक कामविह्वल लोग दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) से भ्रष्ट होते हैं। उत्कृष्ट लक्ष्मी के समूह से पाने योग्य ऐसे भोग या अनन्त ज्ञान और आनन्द का सादात्म्य योग, ये महात्माओं की प्रसन्नता से ही प्राप्त होते हैं। प्रायः अनादि काल के अभ्यास से जल की तरह निरन्तर नीचे गमन करने वाले और प्रतिदिन पापक्रिया में आसक्त ऐसे कितनेक प्राणी तो धर्म को जानते ही नहीं और कितनेक धर्म को जानते हैं और श्रद्धा भी रखते हैं तो भी चारित्रावरणीय कर्म के उदय से गृहस्थपन को छोड़ नहीं सकते। परन्तु गृहस्थाश्रम में धर्म कहाँ है ? कि जहाँ आरम्भ में भीरु होने पर भी भव्य जीव केवल अपने पेट के लिये प्रति दिन छः काय जीवों की विराधना करते हैं। इसलिये स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी के तुल्य, शान्तरस रूप जल के प्रवाह समान और दुःखदाह के औषध रूप ऐसी दीक्षा ही अब मुझे योग्य है।'

इस प्रकार दुःख से उत्पन्न हुए ज्ञानगर्भित वैराग्य के रंग से जिसकी विषय वासना नाश होगई है ऐसी वह सती पिता को कहने लगी—'हे तात! मेरे दुःख से दुःखित होकर आप लेशमात्र भी सन्ताप न करें कि यह बेचारी मूल से ही पति के संग से मुक्त हुई है। कारण कि मैं यथार्थ परब्रह्म के अनन्त सुख में स्पृहा वाली हूँ, एवं एकान्त दुःख का स्थान रूप ऐसा इस संसार को त्याग करने की मेरी पहले से ही इच्छा थी, परन्तु उसमें पति की आज्ञा की आवश्यकता थी, वह नृत्य करने वाले को तबलों की आवाज़ की जैसे मुझे इतने में ही मिल गई। इसलिये हे तात! मुझे आज्ञा दो और आज तक किये हुए अपराधों की क्षमा करो। अब सबसे विरक्त होकर मैं दीक्षा स्वीकार करूँगी।' प्रसंग को जानने वाले सेठ ने भी सब स्वजनों की समक्ष हर्षित होकर आज्ञा दे दी। जिससे पवित्र होकर उसने सात क्षेत्रों में अपना धन खर्च करके सुव्रता नाम की आर्या के पास बड़े महोत्सव पूर्वक दीक्षा अंगीकार की। शुद्ध आचार में प्रवर्त्तती हुई, पाप कर्मों से रहित स्वाध्याय ध्यान में तत्पर, मुक्ता समान निर्मल गुणों से युक्त, अभिमान रहित, क्रोध रहित अधिक तप करती हुई और प्रमाद रहित ऐसी वह निरन्तर अच्छी तरह संयम का आराधन करने लगी।

एक दिन साध्वियों के साथ पृथ्वी पर विहार करती हुई साध्वी सर्वाङ्गसुन्दरी क्रमशः साकेतपुर नगर आपहुँची। यहाँ रहने वाली श्रीमती और कान्तिमती ने वहाँ आ कर के प्रवर्त्तिनी को तथा दूसरी साध्वियों को भी वंदना की। कुछ इस भव के संबंध से और पूर्व जन्म के स्नेह से सर्वाङ्ग-सुन्दरी पर उनकी विशेष प्रीति हुई। ज्ञाननिधि ऐसी प्रव-र्त्तिनी ने उनके आगे मोक्ष को देने वाली और पाप को नाश करने वाली ऐसी धर्मदेशना दी। यह सुन कर भद्र प्रकृति वाली उन दोनों ने मिथ्यादर्शन की वासना का त्याग करके श्रावक धर्म स्वीकारा और सर्वाङ्गसुन्दरी के पास प्रतिक्रमणादि सूत्रों का अच्छी तरह अभ्यास करने में तत्पर होकर उपाश्रय में बहुत समय रहने लगीं।

एक दिन उनके दोनों पतियों ने उनको पूछा कि—'हे मुग्धाओ ! तुम प्रतिदिन घर को शून्य छोड़ करके कहाँ जाती हो ?' वे बोलीं—'हे स्वामिन् ! यहाँ सुव्रता साध्वी के साथ सर्वाङ्गसुन्दरी नाम की साध्वी आई है, उनको वन्दना आदि करने के लिये हम हमेशा वहाँ जाती हैं।' यह सुनकर कुछ सर्वाङ्गसुन्दरी के पर मात्सर्य से वे कहने लगे—'हे मुग्धे ! वहाँ तुमको नहीं जाना चाहिए, कारण कि वह अच्छी नहीं है।' इस प्रकार ईर्ष्या पूर्वक पतियों ने उन दोनों को बारम्बार रोका, जिससे श्रद्धालु हृदय से

वे प्रवर्त्तिनी को कहने लगीं—'हे भगवति ! निरन्तर घर को शून्य रखकर यहाँ आने से हमारे पति खेद पाते हैं और वे मिथ्या-दृष्टि होने से हमारे पर द्वेष करते हैं। इसलिये सर्वाङ्गसुन्दरी को हमारे घर पढ़ाने के लिये भेजो कि जिससे श्रावक की सब क्रिया हमको यथार्थ आ जाय।' उनके इस प्रकार के कथन से उनको पढ़ाने के लिये प्रवर्त्तिनी की आज्ञा से सर्वाङ्गसुन्दरी प्रतिदिन उनके घर जाने लगी। जिससे उनके पति ने उसको देखकर के अपनी प्रियाओं से कहने लगे—'हे मुग्धाओ ! सामान्य प्रकृति वाली इस सर्वाङ्गसुन्दरी का अति परिचय करना तुमको परिणाम में लाभदायक न होगा।' इस प्रकार उनके पति ने निषेध किया तो भी धर्म की आस्तिकता से तथा पूर्व जन्म के स्नेह से वे दोनों उस साध्वी के नित्य परिचय से लेशमात्र भी विराम न पाईं।

एक दिन ग्रीष्मऋतु में श्रीमती ने अपने रहने के मध्य घर में मोती का हार कंठ से उतार कर और अपने समीप रखकर सर्वाङ्गसुन्दरी के साथ धर्मगोष्ठी करने लगी, इतने में किसी अकस्मात् कार्य की शीघ्रता से हार को वहीं रख कर तुरन्त कहीं चली गई। चोरपन को सूचित करने वाला कपट वचन से सर्वाङ्गसुन्दरी ने पूर्व जन्म में जो कर्म बाँधा था, वह दुष्कर्म इस समय उदय आया। इसके उदय से

चित्र में रहा हुआ मोर अकस्मात् दीवार पर से नीचे उतर कर वह हार तुरत ही निगल गया और पीछे दीवार में ही जाकर स्थिर हो गया। असम्भवित ऐसा यह वृत्तान्त देखकर वह साध्वी मन में वहुत आश्चर्य करने लगी और इससे मुझे चोरी का अपवाद (कलंक) आवेगा इस भय से वह दुःखित हुई। 'यहाँ मैंने मेरा हार रखा था वह कहाँ गया, यहाँ दूसरा कोई नहीं आ सकता।' इस प्रकार श्रीमती आते ही तुरन्त मुझको पूछेगी। उसके उत्तर में यह प्रत्यक्ष देखी हुई किन्तु बिल्कुल असम्भव बात मैं बोलूंगी तो मृषावाद का दूसरा कलङ्क मेरे पर आवेगा। अब यहाँ दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, इसलिये अभी यहाँ से चला जाना ही युक्त है।' इस प्रकार विचार करके वह शीघ्र ही वहाँ से चली गई और उपाश्रय में आकर के प्रवर्त्तिनी को वन्दना करके कुछ श्याममुख से उस चित्र-गत मयूर का वृत्तान्त जैसा देखा था वैसा कह सुनाया। प्रवर्त्तिनी ने कहा—'तेरे पूर्व कर्म से प्रेरित होकर कोई कुतूहली देव चित्रमयूर में प्रवेश करके उस मोती की माला को निगल गया मालूम होता है। इसलिये हे भद्रे!, तू मन में खेद न कर और वृथा क्रोध भी न कर, कारण कि प्राणियों का पूर्वकृत कर्म ही शुभाशुभ का हेतु होता है।' प्रवर्त्तिनी की यह बात सुनकर माध्यस्थ्यपन धारण करके

सर्वाङ्गसुन्दरी विचारने लगी—'अहो ! ऐसा कौनसा कर्म मैंने पहले किया था कि जिसका ऐसा दुःसह फल मुझे प्राप्त हुआ । अहा ! बहुत खेद की बात है कि प्राणी ऐसे पाप एक लीलामात्र में करते हैं कि जिनका विपाक असंख्य जन्मों में दुःखी होकर वे भोगते हैं । प्राणी जहाँ तक सद्ध्यान और सद्अनुष्टानरूप जल से अपने पापों को धोकर के स्वयं आत्मा के सत्यस्वरूप को देखे नहीं, वहाँ तक ही इस संसार में दुष्कर्म से मलिन होकर विविध योनियों में अनेक प्रकार के रूप धारण करके दुःख पाते हैं । यदि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव में चित्त स्थिर रहे तो प्राणियों को परमब्रह्म (मोक्ष) पद बहुत दूर नहीं है ।' इस प्रकार यथार्थ संवेग के रंग से रंगाती हुई सर्वाङ्गसुन्दरी ने घातिया कर्मों के क्षय होते ही, तुरन्त केवलज्ञान प्राप्त किया । इतने में समीप आये हुए देव जय २ शब्द करने लगे और आकाश में उसी समय मधुर स्वर से देव दुन्दुभि का नाद होने लगा । उस समय राजा प्रधान और और श्रेष्ठीवर्ग आदि श्रद्धालु मन वाले नगरवासी जन वहाँ उन को वन्दन करने के लिये और सद्धर्म सुनने के लिये आये ।

यहाँ श्रीमती को हार नहीं मिलने से अपने परिजन वर्ग को पूछने लगी—'यहाँ से हार कहाँ गया ?' परिजनों

ने कहा—'हम कुछ भी जानते नहीं, किन्तु यहाँ साध्वी सिवाय दूसरा कोई नहीं आया है।' वह भी क्रोध से कहने लगी—'ऐसा असंबद्ध क्या बकते हो? कारण कि साध्वियाँ तो रत्न और पत्थर में, माटी और सुवर्ण में तथा शत्रु और मित्र में समान दृष्टिवाली होती हैं। वे कभी हार ग्रहण नहीं करतीं।' हार गुम हुआ जान कर श्रीमती के पति सागरदत्त और देवर समुद्रदत्त हास्य और ईर्ष्यापूर्वक कहने लगे—'यह साध्वी अच्छी नहीं है, ऐसा हमारा कहा हुआ नहीं माना, जिससे हे मुग्धे! तेरा मुक्ताहार उसने ले लिया यह अच्छा हुआ।' श्रीमती कहने लगी—'अरे! आप वृथा कर्मबन्ध करते हैं, कारण कि निःस्पृह साध्वी हार को सर्प की तरह दूर से ही छोड़ देती हैं।' इस प्रकार जितने में ये सब परस्पर ईर्ष्या और प्रेम के साथ उक्ति प्रत्युक्ति करते हैं, इतने में वहाँ ही श्रीमती के घर 'यह क्या आश्चर्य' ऐसे हृदय में विस्मय पाते हुए वे सब चित्र गत मयूर के मुख से निकलते हुए हार को देखने लगे। अब सागरदत्त ने उसके मुख में से उस हार को, खींच करके और पहिचान करके, लज्जित होता हुआ अपनी प्रिया को अर्पण किया। उसके बाद इस असम्भाव्य वृत्तान्त का कारण जानने की इच्छा से वे सब सर्वज्ञ ऐसी सर्वाङ्ग-सुन्दरी के पास आये। सम्यग्ज्ञान से जिसने समस्त विश्व

को जान लिया है, ऐसी वह सती सन्मुख बैठे हुए उन सब को धर्मोपदेश देने लगी।

'अहो! भव्यजीवो! जो देखने में नहीं आता, जो सुनने में भी नहीं आता और जिसकी मन में कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसे आश्चर्यभूत वृत्तान्त को दैव (कर्म) एक क्षणवार में कर सकता है। प्रबल उच्छृंखल ऐसा यह कर्म संसार में प्राणियों को निरन्तर अनेक प्रकार से दुःखी करता है। विधि, विधाता, नियति, काल, प्रकृति, ईश्वर और दैव इत्यादि भिन्न २ नाम से अनेक दार्शनिक लोग उसको बोलते हैं। समस्त प्राणियों को हो गये, हो रहे और होने वाले दुःख के समूह का निदान रूप ऐसा दैव को ही वैज्ञानिक लोग बारंबार बखानते हैं। मोक्षमार्ग की अर्गला (आगल) समान उस कर्म का नाश करने के लिये तत्पर हुए मनुष्यों को ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप धर्म ही निरन्तर आराधने योग्य है।' इस प्रकार देशना समाप्त होने बाद सागरदत्त सभा समक्ष पूछने लगा—'हे भगवति! चित्रमयूर मुक्ताहार को कैसे निगल गया?' केवली कहने लगे—'पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित हुए देव के आश्रय से, जैसे गवाक्ष में रह कर कोई पुरुष तुम्हारे समक्ष बोला था, वैसे चित्रमयूर भी हार निगलता है।' पूर्व संकेत के कथन से सागरदत्त अचम्भित होकर फिर

पूछने लगा—'यह कैसा कर्म और किसने किस प्रकार बांधा था ?' अब केवली इस प्रकार कहने लगे—'पूर्वजन्म में द्वेष पूर्वक मैंने जो कपट युक्त वचन कहे थे, वह द्वेषरूप कर्म का फल इस भव में मुझे प्राप्त हुआ है।' पीछे बहुत मनुष्यों को प्रतिबोध देने के लिये उसने विस्तारपूर्वक अपने पूर्व भव का वृत्तान्त आद्यन्त यथार्थ कहा, सर्वज्ञा के मुख से इस प्रकार सुन कर उन (सागरदत्त आदि) चारों को मानो कल ही देखा हो ऐसा पूर्व भव के अनुभव का जातिस्मरण हुआ और हृदय में विचार करने लगे—'इस संसार में शुभाशुभ भव को प्राप्त करके उसमें ही एकाग्र चित्त वाले जीव पूर्वा पर को नहीं जान सकते। माता आदि के सम्बन्ध से भी स्नेहार्द्र मन वाले प्राणी दूसरे २ रूप को धारण करने पर वे परस्पर एक दूसरे को नहीं पहिचान सकते।' इन चारों में सागरदत्त साध्वी पर वारम्वार असद्दोष की शंका करता था, जिससे अपने हृदय में वहुत दुःखी होने लगा और राग द्वेष से मुक्त हुई उस केवलज्ञानी साध्वी के चरणों में गिर कर अपने दोषों को क्षमाने लगा। पीछे संसार को असार और विरस समझ कर के उन चारों ने एक साथ चारित्र स्वीकार किया और सर्वज्ञ की सात्विक शिक्षा को हृदय में धारण करते हुए उन्होंने त्रिकरण शुद्धि से चिर काल

तक साधु धर्म का अच्छी तरह पालन किया। क्रमशः तप ध्यान और क्रिया के उद्योग से उन्होंने समग्र पाप धो डाला और योग्य समय में उज्वल केवल ज्ञान प्राप्त करके तथा आयुष्य क्षय होते ही सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके क्रमशः सर्व अर्थों की सिद्धि रूप ऐसे सिद्धपद को प्राप्त किया।

भौजाई की पीड़ा के कारण से कपट युक्त बोले हुए लेशमात्र वाक्य भी धनश्री को ऐसे कटुक फल को देने वाले हुए, इसलिये सज्जनों ने मन वचन और काया से दूसरे को पीड़ा करनी नहीं, करानी नहीं और करने वाले को अनुमति भी देना नहीं।"

इस प्रकार कान से सुधारस समान आचार्य महाराज की वानी सुन कर पाप कर्म के विपाक से हृदय में अत्यंत भय पा करके, देवदिन्न तुरंत ऐसे संसार रूप कारागार (जेल) की राग बुद्धि को छोड़ करके, अपनी प्रिया सहित अभंग वैराग्य वाला हुआ। पीछे अपने बड़े पुत्र पर कुटुम्ब का सब भार आरोपन करके तथा जिन चैत्यालयों में अष्टाह्निका महोत्सव करके दोनों ने दीक्षा लिया। वहाँ दूसरे बहुत भव्य जीवों ने भी दुःख और दुर्गति से भय पाकरके यथानुकूल सम्यक् प्रकार के साधु धर्म और श्रावक धर्म का आराधन किया। सम्यक् प्रकार से चारित्र

का पालन करके देवदिन्न और सरस्वती स्वर्ग में गये। वहाँ से अनुक्रम मोक्ष सुख को प्राप्त करेंगे।

हे वत्सो! इस प्रकार तीव्र मोह के उदय से प्रियंगु सेठ संसार में भ्रमा और मोह का त्याग करने से प्रिया सहित उसके पुत्र देवदिन्न ने संसार का पार पाया। इसलिये हे पुत्रो! ऐश्वर्य, प्रिया, अपत्य और पंचेन्द्रियों का सुख इन का मोह छोड़ कर के मन को धर्म में लगा दो।"

※ इति दूसरा उल्लास ※

❀ तीसरा उल्लास ❀

—※—

जो अपने उज्ज्वल आशय में नरकादि दुर्गति का उच्छेदन करने वाले प्रकाशमान, अलौकिक, तेजरूप सुदर्शन (क्षायिक भाव) को धारण करते हैं, ऐसे मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी श्री युगादिजिन हमको लक्ष्मी की प्राप्ति के निमित्त हो।

अब केवल नाम के कुमार ने तीन जगत् के नाथ को प्रणाम करके कहा—हे 'स्वामिन् ! मोह का त्याग करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा आपने उपदेश किया और उस मोह का त्याग तो मोह के अंग का त्याग करने से ही हो सकता है। इस संसार में विद्वानों ने मोह का प्रथम अंग लक्ष्मी को ही माना है; जो मोहनलता की तरह प्राणियों को मोहित करती है।' भगवान् इस प्रकार के उनके वचनों को सुनकर पुत्र के हित के लिये आदर पूर्वक कहने लगे—'इस लोक और परलोक सम्बन्धी अनर्थ का कारण यह लक्ष्मी ही है। यह चतुरंगिणी सेनारूप, रमणीय, इन्द्रिय सम्बन्धी सब सुखों को देने वाली और त्रिवर्ग का साधन रूप है, इसलिये इसका त्याग करना तो अशक्य है, प्रथम

तो यह विना क्लेश के प्राप्त नहीं होती है, और यदि प्राप्त भी हो जाय तो उसकी रक्षा करने में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं, जिससे उसका बड़ी मुश्किल से लोग रक्षण कर सकते हैं। कहा है कि—

'अर्थानामर्जने दुःखं-मर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥'

धन प्राप्त करने में और प्राप्त किये हुए धन की रक्षा करने में कष्ट उठाना पड़ता है। लक्ष्मी की आय (आने में) में भी दुःख और व्यय में (जाने में) भी दुःख है। अहो! लक्ष्मी एकान्त दुःख का पात्र है इसलिये उसको धिक्कार हो।' हे भद्रो! धन को प्राप्त करने में और उसके व्यय (खर्च) में जिसने प्रत्यक्ष कष्ट देखा है, ऐसे प्रसिद्ध रत्नाकर नाम के धनिक का यहाँ दृष्टान्त है उसको सुनो—

सूर्यपुर नाम के नगर में रत्नाकर नाम का एक प्रसिद्ध सेठ रहता था। उसके प्रीतिमती नाम की स्त्री और सुमंगल नाम का पुत्र था। तृष्णायुक्त हृदय से जल स्थल मार्ग की अनेक प्रकार की यात्रा करके, शीत, क्षुधा, तृषा, आतप आदि के कष्टों को अनेक वार सहन करके, जिसके स्वच्छन्दी मन के अनुकूल चलने से ही साध्य हो सके ऐसे राजाओं की सेवा करके, कपट पूर्वक अनेक प्रकार के

आरम्भ समारम्भ वाले व्यापार करके, चिरकाल बेईमानी से क्रय-विक्रय करके और अपने घर के खर्च में भी बहुत कुछ कसर करके उस कुबुद्धि सेठ ने बहुत धन प्राप्त किया था ।

एक दिन प्राप्त किये हुए धन की रक्षा करने का उपाय विचार कर अपने पुत्र से एकान्त में उसने कहा—'हे वत्स! यदि धन प्रत्यक्ष हो तो राजा, चोर, भागीदार और धूर्त्त लोग लोभ से उसको लेने की इच्छा करते हैं। इसलिये उसको पृथ्वी में गाड़ दिया जाय तो अच्छा।' ऐसी सलाह करके, पुत्र के साथ, मध्यरात्रि के समय सोना मुहरों से भरे हुए कलश को लेकर वह श्मशान में गया। वहाँ बहुत धन हार जाने से देने में असमर्थ होने के कारण कोई जुआरी दूसरे जुआरियों से भाग करके प्रथम से ही वहाँ छुपकर बैठा हुआ था। 'ये पिता और पुत्र जितना धन पृथ्वी में गाड़ करके जायँगे वह सब धन मेरे आधीन करके मैं अवश्य ले जाऊँगा।' इस विचार से खुश होकर वह गुप्त रीति से उस स्थान को देखने लगा और लोभ के वश होकर वहाँ पड़े हुए अनाथ मुर्दों के साथ अचेतनसा होकर पड़ा रहा। किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि वाला सेठ धन गाड़ते समय पुत्र से कहने लगा—'कोई इस स्थान को देख न ले इसलिये तू चारों तरफ तलाश कर।' ऐसा सुनकर वह

धूर्त्त (जुआरी) भी वहाँ पड़े हुए मुर्दों के बीच में, धन के लालच से, मुर्दे के जैसे निश्चेष्ट होकर के पड़ा रहा। पिता की आज्ञा से पुत्र ने भी वहाँ आ करके, चारों ओर देख करके पिता से कहा—'हे तात! यहाँ मुर्दों के सिवाय दूसरा कोई नहीं है और वे मुर्दे भी शियाल आदि जानवरों से कहीं २ खाये हुए हैं, परन्तु उनमें एक ताज़ा मुर्दा अक्षत अंग वाला है।' तब सेठ शंकित होकर के कहने लगा—'रात्रि के समय निर्जन श्मशान में कोई भी शव इतने समय तक अक्षतांग कैसे रह सकता है? इसलिये हे वत्स! परद्रव्य के अभिलाषी कितने ही धूर्त्त लोग दम्भ से भी मरते हैं। कदाचित् वह दम्भ से मरा हुआ तो नहीं है? उस अक्षतांश मुर्दे के दोनों कान छेद कर यहाँ ले आओ, यदि वह कपट से मरा हुआ होगा तो इतनी व्यथा को सहन नहीं कर सकेगा।' ऐसा सुनकर वह धूर्त्त विचारने लगा—'यह मेरे दोनों कान छेद डाले तो भी मैं चलायमान न होऊँगा, कारण कि कान से धन श्रेष्ठ है, कान रहित भी यदि धनिक हो तो, लोग उसका सर्वत्र आदर करते हैं और धन रहित तो कान होने पर भी किसी काम में आदर नहीं पाता।' अब श्रेष्ठी पुत्र ने पिता की आज्ञा से वहाँ आकर उसके दोनों कान छेद करके अपने पिता को दिये; परन्तु धन का लोभी वह कपटी लेशमात्र भी

चलायमान नहीं हुआ। रत्नाकर सेठ उन कानों को लोहू वाले देखकर हृदय में चकित हुआ और पुत्र को कहने लगा—'हे वत्स! मुर्दे में कभी लोहू नहीं होता, इसलिये इसमें कुछ भेद है, जिससे उसकी नासिका छेदे विना 'यह धूर्त्त है या शव है?' ऐसी शंका मेरे हृदय में से हट नहीं सकती। पुत्र सरल हृदय से कहने लगा—'हे तात! आपके आग्रह से कुल के अनुचित ऐसा पाप कर्म प्रथम तो मैंने किया, तो भी 'यह मृतक है या जीवित है?' ऐसा विश्वास आपको नहीं हुआ, इतना भी आप नहीं समझते कि वह जीवित होता तो इतना कष्ट कैसे सहन कर सकता? आप वृद्ध होने पर भी हृदय से दुर्बल हैं, हे तात! इसी प्रकार जहाँ तहाँ पैर २ में भय की शंका करने से आपको शरम नहीं आती?' सेठ कहने लगा—'हे वत्स! दूसरे का द्रोह करने में एक मन वाले मनुष्यों को जगत् में कुछ भी दुस्सह या दुष्कर नहीं है। यह कान छेदने का कष्ट तो दूर रहा परन्तु कितने ही नराधम मनुष्य अपने शिर को जोखम में डाल करके भी परस्त्री और परलक्ष्मी की चाहना करते हैं। जिनसे दिव्य शक्ति वाले देव भी त्रास पाते हैं ऐसे धूर्त्तों से भय पाने में मेरे जैसे को लज्जा क्यों आवे। कहा है कि—

'उत्सङ्गे सिन्धुभर्त्तुर्भवति मधुरिपु
गाढमाश्लिष्य लक्ष्मी-

मध्यास्ते वित्तनाथो निधि निवहमुपा-
दाय कैलासशैलम् ।
शक्रः कल्पद्रुमादीन् कनक शिखरिणो
ऽधित्यकासुन्यधासीत्,
धूर्त्तेभ्यस्त्रा सभित्थं दधति दिविषदो
मानवाः के वराकाः ॥'

'जिनसे भय पा कर कृष्ण लक्ष्मी को गाढ़ आलिंगन करके समुद्र के उत्संग (गोद) में निवास करते हैं, धनपति (कुवेर) नव निधानों को ले करके कैलास पर्वत पर जा रहे हैं, और इन्द्र ने कल्पवृक्षों को मेरुपर्वत की ऊपरी भूमि में स्थापित कर दिया है। इस प्रकार देव भी धूर्त्तों से त्रास पाते हैं तो वेचारे मनुष्य किस गिनती में हैं।' इसलिये तू वहाँ जाकर उसकी नासिका छेद डाल जिससे कभी धन गुम हो जाय तो भी अपने को बिना विचारा करने का पश्चात्ताप न हो।' सेठ के ऐसे वचन सुन कर धूर्त्त भी विचारने लगा—'इनको जो कुछ करना हो वह खुशी से करें, परन्तु इस धन की इच्छा से मेरी गर्दन छेदित हो जाय वहाँ तक मैं कुछ भी बोलने वाला नहीं हूं।' श्रेष्ठीपुत्र पिता के वचनों से प्रेरित होकर और मन

में कुछ मत्सर (ईर्ष्या) ला कर के उसकी नासिका भी छेद लाया। पीछे सेठ शंका रहित होकर अपना धन भूमि में गाड़ करके पुत्र के साथ घर आया। उनके जाने बाद नाक और कान रहित होने पर भी प्रबल हृदय वाला, जबरदस्त उद्यम करने वाला और जिसने उस धन से अपनी दरिद्रता को दूर करने का विचार कर लिया है ऐसे उस धूर्त्त ने तुरन्त ही सब धन निकाल लिया और द्यूत (जूआ) के व्यसन वाला ऐसा वह निःशंक होकर के अलौकिक दान और भोगों से सेठ की लक्ष्मी का इच्छा पूर्वक भोग करने लगा। कहा है कि—'अपने आधीन की हुई परस्त्री और परलक्ष्मी का विलास करने में ऐसे अधम पुरुष जन्म से ही बहुत कुशल होते हैं।'

एक दिन नाक और कान से रहित, याचकों को इच्छित दान देने वाले और लीला पूर्वक चलने वाले उस धूर्त्त को सेठ ने देखा। उसको देख कर आश्चर्य से विकसित मन वाले सेठ ने विचार किया कि—'ऐसे विकृत मुख वाले के पास इतनी समृद्धि कहाँ से ? इस धूर्त्त ने मेरा गाड़ा हुआ धन तो नहीं हरण किया है ?' इस प्रकार शंकाकुल होकर वह तुरन्त ही वहाँ देखने के लिये गया। वहाँ अपने धन को न देख कर मानो वज्र से आघात हुआ हो ऐसे दुःखी होकर भूमि पर गिर पड़ा और क्षण

बार मूर्च्छा से उसकी आँख मिच गई। कुछ समय के बाद जब शीतल वायु से उसको शुद्धि आई तब पश्चात्ताप रूप अग्नि से तप्त होकर वह पृथ्वी पर पड़ा २ रुदन पूर्वक विचारने लगा—'अहो! प्राण से भी अधिक और अनेक कष्ट सहन करके प्राप्त किये हुए मेरे धन को हरण करके उस छेदित नाक कान वाले धूर्त्त ने मुझे मार डाला। दम्भ से भरा हुआ वह धूर्त्त लेशमात्र भी मेरी समझ बाहर नहीं था, परन्तु जब पुत्र ने ही शत्रु हो कर मेरा कहना नहीं माना तब मैं क्या करूँ? यहाँ तो उसका दोष नहीं मेरी ही अज्ञानता है। क्योंकि मैंने नाक और कान की जैसे उसका मस्तक छेद नहीं डाला। जैसी भवितव्यता हो वैसी बुद्धि, वैसी मति और वैसी ही भावना उत्पन्न होती है और सहायक भी वैसे ही मिलते हैं। अब तो जो होनहार था वह हुआ, परन्तु अभी भी इस धन लेने वाले की बात राजा से निवेदन करके गये हुए धन को फिर प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार मन में विचार करके उस धूर्त्त को पकड़ कर क्रोध से उसकी तर्जना करते हुए सेठ, विकार रहित मुख वाले उस धूर्त्त को राजा की सभा में ले गया और दुष्टों का निग्रह (दण्ड) करने में तत्पर राजा को कहने लगा—'हे राजन्! इस दुष्ट ने मेरा बहुत धन ले लिया है।' तब राजा ने उसको पूछा—'क्यों रे! यह

सेठ क्या कहता है ?' धूर्त्त ने कहा—'ये सब सत्य है, परन्तु इसमें कुछ कहना है। परस्पर चित्त की अनुकूलता से व्यौपारी लोग व्यवहार से प्रतिदिन करोड़ों रुपयों का व्यापार करते हैं। चित्त की अनुकूलता से परस्पर अच्छा व्यवहार होने पर कालान्तर में यदि लेने वाला नामंजूर हो जाय तो महाजन उसका निषेध करते हैं अर्थात् उस को ऐसा नहीं करने देते। हे विभो! इस प्रकार के व्यवहार से मैंने भी उसका धन लिया है। तो लोभ के वश होकर यह सेठ अभी किस लिये कलह करता है ? उस समय रोष से शुष्क मुख करके सेठ ने चोर को कहा कि—'हे मूढ़! चोरी से मेरा धन लेकर झूठ क्यों बोलता है ?' धूर्त्त बोला—'हे सेठ! मेरी वस्तु को तुम कैसे भूल जाते हैं ? मैंने विनिमय (अदल बदल) से तुम्हारा धन लिया है, मुफ्त नहीं लिया है।' उस समय बिच्छू से काटे हुए बन्दर की तरह अतिशय कूदता हुआ और कोप से शरीर को कँपाता हुआ सेठ आक्षेप पूर्वक उसको कहने लगा—'अरे निर्लज्ज! बदले में तूने मुझको क्या क्या दिया है ? वह स्पष्ट कह दे कि जिससे दूध और पानी की भिन्नता अभी राजसभा में प्रकट हो।' धूर्त्त कहने लगा—'अरे सेठ! उस समय बदले में मेरा कान और नाक तुमने लिया था वह क्या इस समय भूल गये ? हे सेठ! यह अदल बदल

अभी भी आपके ध्यान में न आता हो तो मेरा नाक और कान मुझे वापिस देकर तुम्हारा धन भी वापिस ले लो।' राजा और मन्त्री आदि आश्चर्य पाकर उसको पूछने लगे—'यह क्या बात है?' तब उसने सब वृत्तान्त यथार्थ कह बतलाया और सबके विश्वास के लिये अपने मुख पर लपेटा हुआ वस्त्र दूर करके तुंबड़ी के फल जैसा चारों ही तरफ से समान अपना मस्तक दिखलाया। यह देखकर 'अहो! इस निरपराध वेचारे को ऐसा क्यों किया?' इस प्रकार उलटा ठपका देकर राजा ने सेठ को रोका। परन्तु 'एक ने नाक और कान काट लिये, और दूसरे ने धन हरण किया, इसलिये दोनों ही समान अपराधी हैं।' इस प्रकार फैसला कर मन्त्रियों ने उसको छुड़वाया। प्रथम धन आ करके वांपिस चला गया, जिससे वह सेठ बहुत दुःखी हुआ। कारण कि जन्मान्धपन से भी विद्यमान चक्षु का नाश हो जाने से जो दुःख होता है वह विशेष दुःसह होता है।

इस प्रकार धन का प्रथम लाभ और पीछे उसका नाश हो जाने से सेठ को बहुत दुःख हुआ, इसलिये हे वत्सो! 'अर्थानामर्जने दुःखम्' अर्थात् धन प्राप्त करने में दुःख और व्यय में भी दुःख है ऐसी कहनावत है। फिर कहा है कि—'कुल, शील, विद्वत्ता, आचार, लक्षण, बल, पुण्य और

लक्ष्मी ये जाते समय और आते समय मनुष्यों को देखने में नहीं आते। संध्या समय के बादल के रंग जैसी या दुष्ट जन की प्रीति जैसी लक्ष्मी तो देखते २ ही अकस्मात् चली जाती है। जीवहिंसा, मृषावाद आदि महापापों को करने वाले और मद्य मांस आदि को सेवन करने वाले ऐसे म्लेच्छों का भी वह आदर करती है। और छः प्रकार की आवश्यक क्रिया में तत्पर, शुद्ध न्यायमार्ग में चलने वाले और सद्गुणों से उत्कृष्ट ऐसे कुलीन मनुष्य हों उनको वह दूर से छोड़ देती है। ऐसी लक्ष्मी को प्राप्त करके कितने ही मद्य पीने वाले की तरह सरल रीति से चल नहीं सकते, सरल मार्ग में भी वे स्खलना पाते हैं। ज्वर से आकुल मनुष्य की जैसे लक्ष्मी का संग करने वाले मनुष्यों को भोजन पर द्वेष, जड़ (जल) में प्रीति, तृष्णा (तृषा) और मुख में कटुकता उत्पन्न होती है। जैसे धुआँ की घटा उज्वल मकान को भी मलिन कर देती है, वैसे लक्ष्मी मनुष्य के निर्मल मन को मलिन करती है। ऐसी वृहत् लक्ष्मी राज्य के निबन्धरूप है और हे वत्सो ! राज्य लोभ पाताल रंध्र की तरह सुदुष्पूर है। वेश्या के हृदय की जैसे राज्य सर्वथा अर्थवल्लभ (धन प्रिय) होता है, दुर्जन की मित्रता की तरह अन्त में वह विरस ही होती है, साँप के करण्डिये की तरह निरन्तर वह प्रमाद रहित रक्षण करने योग्य है, एक

शाखा से दूसरी शाखा पर उछलते हुए वन्दर की तरह वह गुणों (डोरी) से आधीन करने योग्य है, फलित क्षेत्र की तरह यत्न से हमेशा रक्षण करने योग्य है और कुपथ्य भोजन की तरह परिणाम में वह भयंकर हैं। वैसे ही यौवनावस्था से उन्मत्त मन वाले मनुष्यों को सब प्रकार की लक्ष्मी विकारकारिणी होती है, उनमें भी राज्यलक्ष्मी तो विशेष करके विकार करने वाली है। राजलक्ष्मी की प्राप्ति से उन्मत्त हुए राजागण अच्छे नेत्रवाले होने पर भी जन्मांध की तरह संमुख रहे हुए मनुष्यों को भी देख नहीं सकते। तथा अपने लंबे कान होने पर भी वहिरे की तरह वे समीप रहे हुए मनुष्यों के वाक्य भी नहीं सुन सकते। दुष्टजनों से पराभूत हुए पुरुषों से स्वार्थसिद्धि के लिये विनति कराते हुए ऐसे वे बोलने में समर्थ होने पर भी गूँगे की जैसे बोलते भी नहीं। वे राज्यलक्ष्मी के मद से उन्मत्त हो कर निरंकुश हाथियों की तरह संतापित प्रजा के धर्मरूप वगीचे को उखाड़ डालते हैं। धन में अन्ध सेवकों के चाटु (खुशामद) वचनों से स्तुति कराते हुए राजा अपने आप को देवों से भी अधिक मानते हैं, इसलिये ही पूजनीय देव, मुनि, स्वजन, बांधव और माता पिता को भी वे अभिमान से नहीं नमस्कार करते। अपना कहा हुआ निरर्थक हो तो भी उसको सार्थ ही बतलाते हैं, और दूसरों के कहे हुए

ठीक हो तो भी वे उनको निरर्थक समझ कर हँसी करते हैं। जो उनको प्रणाम करे, मिष्टवाक्यों से उन की स्तुति करे और उनके योग्यायोग्य वचनों को 'तथ्य' इस प्रकार बोल कर स्वीकार करे उनको ही वे बहुमान देते हैं, उनके ही वचनों को हितकारक समझते हैं, मित्रपन में या सेवकपन में उनको ही स्थापते हैं, उनकी ही प्रशंसा करते हैं, उनको ही धन देते हैं, उनके ही साथ सलाह करते हैं और उनके ही साथ गोष्ठी करते हैं। चाटुग्राह्य राजाओं की स्वतन्त्रता को जो नहीं अनुसरते वे गुणी, धीमान् या कुलीन हो तो भी कोई भी कार्य में राजा उनका आदर नहीं करते। हे वत्सो! इस प्रकार की दोषयुक्त लक्ष्मी का अज्ञजनों को ही प्रतिबन्ध होता है, सुज्ञजनों को तो प्रायः उसके संग से भी प्रतिबन्ध नहीं होता। दृष्टान्त रूप शुचिवोद्र और श्रीदेव नाम के दो वणिक्‌मित्रों को इस लक्ष्मी ने प्रथम मोटा बना कर पीछे उनको आक की रूई से भी हलके कर दिये थे। उनका दृष्टान्त इस प्रकार है—

भोगपुर नाम के नगर में बाप की लक्ष्मी से श्रीमन्त बने हुए श्रीदेव और शुचिवोद्र नाम के दो बनिये रहते थे। उनमें शुचिवोद्र शोचाचार में बहुत कदाग्रही था, इसलिये वह पानी से भरे हुए तांबे के लोटे को हाथ में लेकर ही सब जगह जाता था।

एक दिन चाण्डालों ने उसके द्वार के आगे आकर के उसकी स्त्री को इस प्रकार पूछा—'तुम्हारा पति कहाँ है?' उसने उत्तर दिया कि 'भीतर हैं'। तब वे चण्डाल बोले—'शुचिवोद्र के पिता की हमारे पास जो लेनी थीं उन सोना मोहरों को हम लाये हैं, ये उसको भीतर जाकर के दे दो।' शुचिवोद्र की स्त्री ने उन्हें ले लीं और घर में जाकर शुचिवोद्र को दे दीं। उस समय 'इन सोना मोहरों के पानी की छींट दी हैं या नहीं?' इस प्रकार सेठ ने पूछा, तब उसने कहा—'नहीं दीं।' यह सुनकर सब जगह अशुचि हो जाने से उस समय वह अत्यन्त खेद करने लगा—'अरे! इन सोना मोहरों ने मेरा सारा घर अपवित्र कर डाला, इसलिये इनका स्पर्श करने से भी छूत होती है।' इस प्रकार बकते हुए उसने रोष से लाल गरम होकर उन सोना मोहरों को अपने बांये पैर से ठोकर मार कर दूर फेंक दीं। इस प्रकार शुचिवोद्र ने अपनी लक्ष्मी की अवज्ञा की, जिससे अत्यन्त मत्सर लाकर उसके घर का त्याग करने की इच्छा वाली लक्ष्मी विचार करने लगी—'मुझे प्राप्त करने की इच्छा से लोग अटवी का भी उल्लंघन करते हैं, बड़े २ समुद्र को भी तैरते हैं, पर्वत के शिखर पर चढ़ते हैं, गुफाओं में प्रवेश करते हैं और क्षुधा, तृषा, आतप आदि महान् कष्टों को भी बहुत बार सहन करते

हैं, तो भी पूर्व कर्म के प्रभाव से मैं उनको मिलती हूँ या नहीं भी मिलती हूँ। ऐसा होने पर भी मेरा अतिशय परिचय से और शौचाचार के कदाग्रह से यह सेठ नष्ट हो गया है, जिससे उसने चारों वर्णों को मानने योग्य और अपने घर आती हुई मुझको अपने पैर से फेंक दी है। मेरा अतिशय परिचय से इस शुचिवोद्र की अक्ल नष्ट हो गई है, इसलिये अब उसको निर्धन करके इस प्रकार दुःखी करूँ कि जिससे यह पुनः २ मुझे प्राप्त करने के लिये समस्त शौचाचार का त्याग करके रांक हो जायँ और चाण्डाल के जूते भी बहुत वार उठावें।' इस प्रकार विचार करके लक्ष्मी ने तुरन्त ही उसका घर छोड़ दिया, जिससे इन्द्रजाल की तरह उसी समय उसका सब धन नष्ट हो गया। कहा है कि—

लक्ष्मीः शनैः शनैरेति निर्याति युगपत् पुनः।
षष्ठ्या पलैर्जलैः पूर्णा रिच्यते यद्व घटी क्षणात्॥

'जैसे पानी में रखी हुई घड़ी साठ पलों में धीरे २ जल से भर जाती है और खाली तो एक क्षणवार में हो जाती है; वैसे लक्ष्मी भी आहिस्ते २ आती है और जाती है तब एक साथ चली जाती है।'

अब शुचिवोद्र निर्धन हो जाने से अपने स्वजन, मित्र और बन्धुओं में सब जगह अनादर पाने लगा। कहा है कि—

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बांधवाः।
यस्यार्थः स्वजनाश्चापि तस्य स्युर्बहवो जनाः॥

'जिसके पास धन है उसके वहुत मित्र, वान्धव और स्वजन होते हैं।' निरन्तर स्वार्थ में रसिक ऐसे मित्र, स्वजन और वान्धव वर्ग, जैसे फलित वृक्षों को पक्षी सेवते हैं वैसे वे लक्ष्मी वाले को ही सेवते हैं और जब वह निर्धन होता है तब 'यह निर्धन हमारे से कुछ मांगेगा' इस प्रकार भय पाकर वे सब जैसे जले हुए अरण्य को मृग छोड़ देते हैं वैसे उसका दूर से त्याग करते हैं। जहाँ प्राप्त हुए धन से यथेच्छ भोग विलास किये थे, वहाँ ही दरिद्र होकर पराभव-रूप अग्नि से वह जलता है।

धीरे २ व्यवसाय मात्र निष्फल हो जाने से शुचिवोद्र उस नगर में अपना निर्वाह भी नहीं चला सका, इस कारण वहाँ से निकल कर अनेक ग्राम, खानि और नगर आदि में वह घूमा, परन्तु किसी जगह से कुछ भी लक्ष्मी प्राप्त न कर सका, कारण कि पूर्वकृत कर्म निरन्तर सहचारी होते हैं। अन्त में निराश होकर वह अपने नगर की तरफ वापिस लौटा और किसी भी स्थान पर विश्राम नहीं लेता

हुआ चलता २ वह एक दिन शाम को नगर के उपवन समीप आ पहुँचा। वहुत लम्वे मार्ग का अतिक्रमण करने से वह थक गया था तथा क्षुधा, तृषा और चिन्ता के भार से व्याकुल हो गया था, इसलिये वहाँ आडम्वर नाम के यक्ष के मन्दिर में वह रात्रि में रहा, इतने में वहाँ एक मातङ्ग (चाण्डाल) आ करके, आदर पूर्वक यक्ष को प्रणाम करके और उसको पूजा करके द्वार मण्डप में वैठा। वहाँ पूजा के लिये चित्री हुई यक्षिणी की उसने पूजा की और उसके सम्मुख मन्त्र जपा कि जिससे वह तुरन्त प्रगट हो गई। तव मातङ्ग ने कहा—'हे स्वामिनी! जिसमें सव इष्ट वस्तु विद्यमान हों ऐसा एक विलास भुवन अभी ही वना दें।' यक्षिणी ने उसी समय विलासभुवन तैयार कर दिया। इष्ट वस्तु को प्राप्त कर वह मातङ्ग अपने स्वजन और मित्रों के साथ उस भुवन में रह कर चिरकाल पंचेन्द्रिय सुख भोगने लगा। अन्त में कृतकृत्य होकर इन्द्रजाल की तरह उसने वे सव फिर विसर्जन कर दिये।

इस प्रकार मातंग का माहात्म्य देख कर शुचिवोद्र मन में आश्चर्य पाकर धन की आशा से उसकी ही सेवा करने लगा। उसको नमन करे, आसन दे, उसके सम्मुख खड़ा रहे, उसके जूते उठावे और प्रतिदिन उसके पैर दावे। इस प्रकार निरन्तर उसकी सेवा करते २ तृष्णा

से चंचल हुए शुचिवोद्र के शौचपन का कदाग्रह नष्ट हो गया। एक दिन शुचिवोद्र की वहुत समय की सेवा से प्रसन्न होकर मातंग उसको कहने लगा—'हे भद्र तू ऐसे अयुक्त उपचार क्यों करता है ?' शुचिवोद्र ने कहा—'हे दीनजनों की दया में तत्पर ऐसे हे स्वामिन् ! सुनो, दारिद्र्य से दुःखी हुआ मैं धन के लिये वहुत भूमि पर घूमा, परन्तु एक फूटी कौड़ी भी प्राप्त न कर सका। जिससे अन्त में निराश होकर मैंने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया। वहाँ देवमन्दिर में आपके बड़े प्रभाव को देख कर धन की आशारूप पाश से बँधा हुआ मैं आपकी सेवा करने लगा हूँ, इसलिये प्रसन्न होकर यह दारिद्र्य रूप बड़े समुद्र में से मेरा उद्धार करें।' ऐसा शुचिवोद्र का वचन सुन कर मातंग उसको कहने लगा—'यक्षिणी की साधना के उपाय वाली यह विद्या तू ले।' ऐसा सुन कर 'बड़ी महरवानी' कह कर उसने विद्या को सहर्ष ग्रहण की। पीछे अपनी आत्मा को कृतार्थ मानता हुआ वह अपने घर गया और वहाँ उसने साधन की सव सामग्री पूर्वक एक मण्डल आलेखा। उसके मध्य में यक्षिणी का चित्र आलेख करके और उसका पूजन करके जितने में वह मन्त्र का स्मरण करता है, इतने में उस का एक पद भूल गया। पीछे शाखा से भ्रष्ट हुए वन्दर की जैसे उदास

मुख करके उसने मातंग के पास जाकर अपना यथास्थित स्वरूप कहा। मातंग नें कहा—'हे भद्र! विद्या से अभिमंत्रित यह पट ग्रहण कर। इस की भी पूजा करेगा तो तुझे इष्ट सिद्धि होगी।' अब मातंग को नमस्कार करके पट लेकर अपने नगर जाते समय रास्ते में शुचिवोद्र का पट चोरों ने छीन लिया। जिससे निस्तेज मुख होकर, वहाँ से ही वापिस लौट कर मातंग के पास आकर के पट का वृत्तान्त कहा। फिर भी अनुकम्पा करके मातंग ने विधिपूर्वक एक विद्या से अभिमंत्रित घट (घड़ा) उसको दिया, तब मातंग को नमस्कार करके घट लेकर वह अपने घर आया और विधि पूर्वक उसका पूजन करके घट के पास से इच्छित पदार्थ याचने लगा। घट में से उसके इच्छित पदार्थ मिले, जिससे उसने अपने सब स्वजन-मित्रों को आदर पूर्वक जिमाया और आप भी पेट भर जीमा। पीछे 'अहो! इस घट के प्रभाव से मेरा दारिद्रय दूर हुआ।' इस प्रकार खुश हो कर घट को मस्तक पर लेकर नाचने लगा। हर्ष से चंचल चित्त होने से इस प्रकार नाचते समय दुर्दैववश उसके मस्तक पर से घट गिर पड़ा और तुरन्त ही उसका खण्ड २ हो गया। घट टूट जाने से शुचिवोद्र मन में बहुत खेद लाकर फिर मातंग के पास गया। तव मातंग ने कहा—'मेरे पास जो विद्याएँ थीं वे

सब तुझे दे चूका हूँ, अब अधिक नहीं है, इसलिये 'हे भद्र! फिर २ मेरे पास नहीं आना।' मातंग ने इस प्रकार कह कर उसको विदा किया जिससे वह अपने घर आया और दुःखित होकर आर्त्तध्यान पूर्वक रात्रि में सो रहा था, इतने में श्वेत वस्त्र वाली एक प्रौढ प्रमदा को देख कर वह उस के सम्मुख गया और प्रणाम कर के उस को पूछने लगा—'हे स्वामिनी! आप कौन हैं?' तब वह बोली कि—'जिस को तूने पैर से फेंक दी थी वह मैं तेरे घर की लक्ष्मी हूँ।' यह सुन कर शुचिवोद्र कहने लगा—'हे मात! इतने लम्बे समय तक आप कहाँ चली गई थीं?' लक्ष्मी ने कहा—'इतने समय तक मैं मातंग के घर गई थी। उसने पूछा—'वह मातंग कौन?' लक्ष्मी ने कहा—'धन की इच्छा से जिसके पीछे घूम २ कर तू जूते उठाता और जिसकी बहुत काल तक सेवा करता था वह मातंग। शुचिवोद्र ने कहा—'तो आज यहाँ आप किसलिये आई हैं?' लक्ष्मी ने कहा—'तेरा शौच देखने के लिये।' ऐसा कह कर लक्ष्मी तुरन्त अदृश्य हो गई। इस प्रकार पहले ग्रहण करके पीछे छोड़ दिये हुए शौच से लज्जा के कारण स्कन्ध को नीचे नमाता हुआ शुचिवोद्र सर्वत्र हास्यास्पद हुआ। लक्ष्मी से रहित होकर वह पश्चात्ताप रूप अग्नि से जलने लगा और जीवन पर्यन्त आजी-

विका से भी वह दुःखी हुआ।

अब उस लक्ष्मी को श्रीदेव तत्त्व से देव मानता था। कारण कि 'लक्ष्मी ही साक्षात् यहाँ दान भोग और महत्त्व आदि फलों को देती है। उसके सिवा जिनके रोष या तोष के फल यहाँ प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते, ऐसे बकरी के गले के रतन के जैसे दूसरे देवों से क्या?' इस प्रकार कहता हुआ वह दूसरे सब देवों का त्याग कर के प्रमोद पूर्वक पुष्पादिकों से लक्ष्मी की मूर्त्ति का ही त्रिकाल पूजन करता था।

एक दिन लक्ष्मी को हँसती हुई देख कर श्रीदेव ने पूछा—'हे मात! हँसने का क्या कारण है?' लक्ष्मी ने कहा—'तेरा वृत्तान्त।' उसने पूछा कि—'मेरा क्या वृत्तान्त?' तब लक्ष्मी देवा ने कहा कि—'जिनके वचन यथास्थित अर्थ वाले हैं, जिनने आभ्यन्तर शत्रुओं को नष्ट किये हैं, भव्य प्राणियों को जो संसार समुद्र के पार मोक्ष में ले जाने वाले हैं, जिनके चरण कमलों को सुर असुर और राजा भी नमस्कार करते हैं, जो जगत् के प्राणियों पर करुणायुक्त मन वाले हैं और जो इसलोक तथा परलोक के सुखों को देने वाले हैं ऐसे देवाधिदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर को छोड़ कर तूं मेरी स्थिरता की आशा से मुझे आराधता है, परन्तु मेरी स्थिरता तो प्राचीन पुण्य से ही होती

है, मेरी सेवा से नहीं होती।' इस प्रकार लक्ष्मी ने हास्य पूर्वक कहा तब श्रीदेव उसको फिर कहने लगा—'हे मात! आपकी सेवा करते मुझे जो होने वाला हो वह हो।' यह सुन कर लक्ष्मी अदृश्य हो गई।

अब बहुत भक्ति पूर्वक लक्ष्मी का आराधन करते २ कितनेक दिन बाद लक्ष्मी को श्याम मुख वाली देख कर श्रीदेव उसको पूछने लगा—'हे अंब! आज आपके मुख पर श्यामता क्यों दीख पड़ती है?' तब लक्ष्मी ने कहा—'हे वत्स! तेरे घर विलक्षण पुत्र का जन्म हुआ है, उसके विलक्षण दोषों से, तूं अति भक्तिमान् है तो भी तेरे चिरकाल से सेवित गृह को भी मैं छोड़ देने की इच्छा करती हूं। कहा है कि—

मर्त्यो भवति तिर्यङ्वा स कश्चिच्छस्य लक्षणः।
लक्ष्मीर्यदनुभावेन गेहमभ्येति सर्वतः॥

मर्त्यो भवति तिर्यङ् वा स कश्चिदपलक्षणः।
लक्ष्मीर्यदनुभावेन सद्मनोप्यपगच्छति॥

'अच्छे लक्षण वाले कोई तिर्यंच या मनुष्य के प्रभाव से लक्ष्मी चारों ही तरफ से घर में आती है और किसी अपलक्षण वाले मनुष्य या तिर्यंच के प्रभाव से लक्ष्मी

घर में से भी चली जाती है। इसलिये तेरे भावी वियोग से मैं श्याम मुख वाली हो गई हूँ।' यह सुन कर श्रीदेव खेद पूर्वक कहने लगा—'अब कहाँ जाओगी?' तब लक्ष्मी ने कहा—'यहीं नगर में पूर्वजन्म में किये हुए मुनिदान के प्रभाव से जिसने अतुल भोग कर्म प्राप्त किया है ऐसे भोगदेव सार्थवाह के घर जाऊँगी।' ऐसा कह कर लक्ष्मी ने शीघ्र ही उसको छोड़ दिया, इसलिये श्रीदेव दुखित हुआ और भोगदेव सार्थवाह सुवर्णादिकों से वृद्धि पाया। अपने घर में चारों ओर लक्ष्मी का विस्तार देखकर भाग्यशाली भोगदेव अपनी भोगवती प्रिया को कहने लगा—'हे कान्ते! विद्युल्लता के जैसी चपल लक्ष्मी जहाँ तक अपने घर में है, वहाँ तक दीन आदि को दान देना और यथेच्छ भोग भोगना।' वह स्त्री तो प्रथम से ही दानशीला थी और इस प्रकार पति ने प्रेरणा की, जिससे विशेष प्रकार मुनि, दुःखी और दीनजनों को श्रद्धापूर्वक इच्छित दान देने लगी।

एक दिन उस नगर के उद्यान में केवली भगवंत समवसरे (पधारे), इसलिये श्रद्धालु मन वाले अनेक लोग उनको वन्दन करने गये। अपनी भोगवती पत्नी के साथ भोगदेव भी वहाँ आया। सब लोग वन्दन करके बैठे तब केवली भगवान् धर्मोपदेश देने लगे—

'चौरासी लक्ष जो जीवयोनि हैं, इन सब योनियों में शरण रहित प्राणी अनंतीवार घूमते हैं। अनन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के प्रमाण वाले जो पुद्गल-परावर्त्त हैं, इनको भी संसार में घूमते हुए प्राणियों ने अनंतीवार पूर्ण किये हैं; परन्तु संसार रूप जंगल में घूमते हुए प्राणियों को कृष्ण चित्रावेल की तरह दुर्लभ ऐसे सद्गुरु कहीं भी नहीं मिले। पुण्योदय से ऐसे गुरु का योग होने पर भी अहो! बहुत से अज्ञजन उनके कहे हुए सद्धर्म को पोथी में का बैंगन समझ कर उसकी अवज्ञा करते हैं, कितनेक उस धर्म को अच्छी तरह हृदय में धारण करते हैं, परन्तु उन्होंने नरक का आयुष्य पहले बँधा हुआ होने से वे धर्म का आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकते। केवल थोड़े ही महात्मा लोग उसको हृदय में अच्छी तरह जमा कर सद्गुरु भाषित धर्म का समस्त शक्ति पूर्वक आराधन करते हैं, और धर्म की महिमा से वे उत्तरोत्तर अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करके महानंद पद (मोक्ष) तक की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त करते हैं।'

अब अवसर देख कर भोगदेव ने केवली भगवान को इस प्रकार प्रश्न किया कि—'हे भगवन्! मुनिदान का फल क्या?' तब केवली भगवन्त बोले—'महान् श्रेष्ठी जनों से व्याप्त ऐसे विशाल शाल नाम के नगर में बड़ी

ऋद्धि वाला संचलशील नाम का सार्थवाह रहता है, उस के घर में तेरह कोटि धन है, परन्तु वह बँधीमुठी (कृपण) होने से कभी किसी को एक कौड़ी भी नहीं देता है और भोगता भी नहीं है। उसके घर में एक दुर्ग-तपताक नाम का नौकर है, वह तुझे दान का माहात्म्य स्पष्ट कहेगा।' इस प्रकार केवली भगवन्त का वचन सुन कर और आश्चर्य पाकर हृदय में विचार करने लगा— 'किसी कारण से ही यह सर्वज्ञ होने पर भी इस प्रकार कहते हैं। इसलिये वह नगर तो बहुत दूर होने पर भी प्रिया सहित वहाँ जाकर के इस प्रश्न का उत्तर मैं प्राप्त करूँ।' कौतुकी लोग आलसी नहीं होते।

पीछे प्रश्न के अर्थ को जानने के लिये उत्सुक भोग-देव अपनी पत्नी के साथ तुरन्त ही वहाँ से प्रस्थान करके विशालशाल नगर में आ पहुँचा। दैवयोग से नगर में प्रवेश करते समय दुर्गतपताक की दुर्गिला नाम की स्त्री को उन्होंने देखा तब उसको पूछा कि—'यहाँ संचयशील नाम के सार्थवाह का घर कहाँ है ? उसने कहा—'यहाँ आओ, मैं आपको उसका घर बतलाऊँ।' पीछे भोगदेव उसके साथ संचयशील सार्थवाह के घर आकर और आदरपूर्वक नमस्कार करके धनसुन्दरी नाम की उसकी स्त्री से पूछा— 'आपके घर दुर्गतपताक नाम का कोई नौकर है ?' उसने

कहा कि—'आपको उससे क्या काम है?' तब भोगदेव ने कहा—'सर्वज्ञ भगवन्त ने कहा है कि 'दान फल से क्या लाभ है?' इस प्रश्न का उत्तर दुर्गतपताक कहेगा, इसलिये उसको पूछने के लिये ही इस समय दूर देश से मैं यहाँ आया हूँ।' ऐसा सुनकर वह खेदपूर्वक कहने लगी—'हे भद्र! हमारा वह नौकर था, परन्तु उसको मरे नवमास चले गये हैं।' दुर्गतपताक का मरण सुनकर खेद पूर्वक भोगदेव वहाँ ही सार्थवाह के घर के समीप एक घर में रहा और विचारने लगा कि—'जिसको पूछने के लिये यहाँ तक मैं आया, वह तो दैवयोग से मर गया, अब मुझे प्रश्नार्थ कौन कहेगा?'

अब एक दिन संचयशील की स्त्री धनसुन्दरी ने श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया, तब धन की आशा से दासी ने तुरन्त ही सेठ के पास जाकर बधाई दी, परन्तु वह धन के व्यय से डरता था इसलिये मौन धारण करके बैठा रहा। दासी निराश होकर उदास मुख किये जैसे आई थी वैसे ही चली गई। एक दिन सेठ बाजार से घर आये तब धनसुन्दरी ने खेद पूर्वक उसको कहा—'वल्लभ! सुनो, पहले मुझे पुत्र नहीं था वह अब भाग्योदय से हुआ है, तो भी आपने उसकी बधाईमात्र भी नहीं की। दान और भोग में भी धन का व्यय करते आप डरते हैं, तो कृपणता से

दुर्यश को प्राप्त करके, पृथ्वी को भारभूत ऐसी इस लक्ष्मी का आप क्या करेंगे ?' ऐसा सुनकर खेद पूर्वक सेठ विचारने लगा—'यह स्त्री मेरे मन के अनुकूल वर्त्तने वाली नहीं है, इसलिये धन प्राप्त करने के कष्टों को वह किंचित् भी नहीं जानती। स्वजन और याचकों की अत्यन्त याचना से भी मेरा मन एक कौड़ी मात्र भी देना नहीं चाहता। यह खर्चीली स्त्री तो धन कमाने के क्लेश से अनभिज्ञ है; इसलिये पुण्य कार्यों में और वधाई आदि में गुप्त रीति से धन का व्यय करेगी। जैसे पानी में रही हुई मछली कब पानी पीती है यह नहीं समझ सकते, वैसे घर की स्वामिनी पत्नी कब और क्या व्यय करती है वह भी समझ नहीं सकते। घर की रक्षा में नियुक्त की हुई पत्नी अपनी इच्छानुकूल धन का व्यय करके घर को खोदे तो अवश्य 'वाढ़ ककड़ी को खाय' ऐसा न्याय होगा। इस भिन्न स्वभाव वाली स्त्री के सहवास में स्वभाव से ही चपल लक्ष्मी को मैं घर में किस प्रकार स्थिर कर सकूंगा ?' इस प्रकार अत्यन्त आर्त्तध्यान के वश से उसको आहार विशूचिका (हैज़ा) हुई, जिससे वह सार्थवाह उसी दिन मर गया। पति के मरण से उत्पन्न हुई धनसुन्दरी के हृदय में जलती शोकाग्नि, पुत्र दर्शन से आते हुए हर्षाश्रुरूप जल से शनैः २ शान्त हो गई।

योग्य समय में धनसुन्दरी ने महोत्सव पूर्वक स्वजन-वर्ग के समक्ष पुत्र का नाम धनदत्त रखा। अब संचयशील सार्थवाह, उसी नगर में नागिल नाम के किसी दरिद्र के घर पुत्र रूप से जनमा। कारण कि 'कर्म सर्वदा बलवान् हैं, उस सेठ का जीव दुर्भाग्य वाला होने से जन्मते ही मात पिता को अनिष्ट हो गया। इसलिये वह क्षुधा, तृषा से दुःखित होता हुआ अत्यन्त महाकष्ट से अपना जीवन व्यतीत करने लगा। यहाँ धनदत्त को, घर और परिजन आदि को देखने से जाति स्मरण ज्ञान हुआ, जिससे हर्ष-पूर्वक वह इस प्रकार कहने लगा—

'श्रद्धया यद् ददे दानं मुनये तत्प्रभावतः ।
रङ्कस्यापि ममाभूवन् धनकोट्यस्त्रयोदश ॥'

'श्रद्धा से मैंने जिस मुनि को दान दिया, उसके प्रभाव से मुझ रंक को भी तेरह करोड़ धन मिला।' यह श्लोक वह प्रति दिन हाथ ऊँचा करके बोलता था, इस पर उसको भोगदेव ने पूछा, 'इसका भावार्थ क्या?' तब वह कहने लगा कि—पूर्व जन्म में मैं मेरे पिता का दुर्गतपताक नाम का नौकर था, किन्तु मुनिदान के प्रभाव से अब तात के घर का अधिपति हुआ हूँ।' इस प्रकार उस बालक को प्राप्त हुए मुनिदान के फल को प्रत्यक्ष देखकर भोगदेव को सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण विश्वास हो गया।

एक दिन अतिशय युक्त ज्ञान वाले कोई मुनि भिक्षा के लिये वहाँ पधारे। उसने सहर्ष ऊपर के श्लोक को बोलते हुए उस बालक से इस प्रकार कहा—'हे बाल! तू इस प्रकार एकान्त हर्ष न कर, कारण कि धन होने पर भी दान और भोग से रहित ऐसा तेरा पिता मर करके यहाँ ही नागिल दरिद्री के घर में पुत्र रूप से जन्मा है। वह बहुत दुःखी है, क्षुधा से पीड़ित है और मा बाप को भी अप्रिय हो गया है जिससे दुःख पूर्वक दिन व्यतीत करता है। जिसने प्राप्त किये हुए धन को ग़रीबों को नहीं दिया और स्वयं भी उपभोग नहीं किया, परन्तु पृथ्वी में गाड़ रक्खा, वह पुरुष अवश्य ही दोनों लोकों के सुखों से भ्रष्ट होता है। देखो! नौकर था वह सेठ हुआ और सेठ था वह नौकर हुआ। इस कर्मरचना को असम्भाव्य कौन माने?' इस प्रकार अपने पति का वृत्तान्त सुन कर धर्मसुन्दरी बहुत दुःखी हुई। पीछे तुरन्त ही पत्नी और पुत्र सहित नागिल को बुलवा करके वह कहने लगी—'तुम दोनों हमेशा मेरे घर का काम काज करो और स्नान तथा अशन (भोजन) आदि से स्नेह पूर्वक इस पुत्र का पालन करो। यह तुम्हारा पुत्र बड़ा होगा तब घर का काम करने वाला होगा।' ऐसा उसका कहना स्वीकार करके वे दोनों सुख पूर्वक वहाँ रहने लगे।

एक दिन रात्रि के समय अपने मकान में भोगदेव ने दो सुन्दरियों को परस्पर वार्त्तालाप करते हुए सुना।

पहली—'हे सुंदरि ! तू कौन है ? वह कह।'

दूसरी—'हे शुभे ! मैं भोगदेव की गृहलक्ष्मी हूँ।'

पहली—'हे बहन ! तुझे कुशल है ?'

दूसरी—(दुःखपूर्वक निःश्वास ले करके) 'हे बहिन ! दूसरे को दान देने में और भोगादि कार्यों में मन को लगा करके, भोगदेव निरन्तर मुझे घुमाता रहता है, तो आज्ञा-प्रधान भर्त्तार की दासी की तरह पराधीन स्वभाव वाली मेरी कुशलता की क्या कथा कहनी ? परन्तु बहिन ! तू कौन है ? वह तो कह।'

पहली—'मैं दोनों प्रकार—नाम और गुण से (संग्रह स्वभाव वाली होने से) संचयशील नाम के सार्थवाह की लक्ष्मी हूँ।'

दूसरी—'बहिन ! तू तो वहाँ सुख से रहती होगी !'

पहली—(सखेद) महाघोर अन्धकारयुक्त खड्डे में मुझको उसने गाड़ रक्खी थी। अब बहुत काल व्यतीत होने बाद, मैं सूर्य चन्द्र और सत्पुरुषों के हाथ का स्पर्श करने के योग्य हुई हूँ। वन्दीवान् (क़ैदी) की तरह पकड़ी

हुई शत्रु की स्त्री की तरह निरन्तर निरोध से उद्वेग पा करके मैं यहाँ दुःख पूर्वक निवास करती हूँ। वहिन! सुख तो मुझे कहाँ से हो?

इस प्रकार उन दोनों के वार्तालाप सुनकर भोगदेव विचारने लगा—'अवश्य! अपने २ स्थान से अभी ये दोनों लक्ष्मी उद्विग्न हुई हैं। यदि ऐसा न होता तो संग्रह करने वाले संचयशील के और व्यय करने वाले मेरे, ऐसे हम दोनों के दूषणों को लक्ष्मी क्यों देखती? भोग से, शौच से, भक्ति से या संग्रह से भी यह चपल लक्ष्मी कभी स्थिर नहीं होती, जिससे उसका दान करना ही श्रेष्ठ है। इसलिये स्वभाव से ही चपल लक्ष्मी मुझे जब तक न छोड़ दे, तब तक सुपात्रों में व्यय करके इसके फल को मैं प्राप्त कर लेऊँ।'

अब वहाँ से अपने नगर में आ करके, चैत्यों में अट्ठाई महोच्छव करके तथा आदर पूर्वक चतुर्विध संघ की पूजा करके, अनाथ दीन दुःखी जनों को उचित दान दे करके, अपने मित्र स्वजन वन्धुओं की सन्मान पूर्वक आज्ञा ले करके, अपने भोगदत्त नाम के पुत्र के ऊपर कुटुम्ब का भार डाल करके, जिसके शुभ ध्यान के अध्यवसाय बढ़ते जाते हैं, जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गई है और 'मैं कल दीक्षा अङ्गीकार करूँगा' ऐसा जिसने मन में संकल्प कर लिया

है ऐसा भोगदेव जब रात्रि में सो रहा था, तब स्त्रीरूप धारिणी लक्ष्मी ने उसको कहा—'हे भोगदेव ! तूने मेरा दान किया और इच्छानुकूल मेरा उपभोग भी किया, वैसे मैं तुझको छोड़ती नहीं हूँ तो भी मेरा तुमने त्याग किया, इसलिये तूने मुझको एक प्रकार से ठगली है। तो भी मैं तेरा इष्ट क्या करूँ ? वह कह।' तब वह कहने लगा—'मेरे जैसे मेरे पुत्र के साथ भी तुम सदा रहना।' इस वचन को स्वीकार करके लक्ष्मी अन्तर्धान हो गई।

अब प्रातःकाल विरक्त बुद्धि वाले भोगदेव ने अपनी स्त्री के साथ प्रशान्ताचार्य गुरु के पास दीक्षा स्वीकार की। निरंतर पवित्र चारित्र पालने में तत्पर और स्वाध्याय ध्यान में आसक्त वह दंपति दुष्कर तप करने लगा। अन्त में सब जीवों को क्षमा कर के और अनशन अंगीकार करके एकावतारी ये दोनों सर्वार्थसिद्ध को प्राप्त हुए अर्थात् पाँचवें अनुत्तर विमान में देवरूप उत्पन्न हुए।

इधर लक्ष्मी ने श्रीदेव को भी तुरन्त ही छोड़ दिया था, जिससे वह आजीविका के लिये दूसरे के घर नीच काम करता था और 'हे श्री देव ! तू प्रतिदिन तीन बार लक्ष्मी की पूजा करता था तो भी तेरी लक्ष्मी क्यों चली गई ?' इस प्रकार मनुष्यों के द्वारा हँसीपात्र होता हुआ

वह कष्ट से समय व्यतीत करता था। अब जिस पुत्र के जन्म के कारण उसके घर से लक्ष्मी स्वयं कह कर चली गई थी, उस विलक्षण पुत्र का दैवयोग से मरण हो गया, जिससे फिर पुण्योदय से लक्ष्मी उसके घर में आई और स्वजन बंधुओं में भी वह माननीय हो गया। अब पुनः संपत्ति प्राप्त हुई जिससे धन के उन्माद से और इच्छापूर्वक प्राप्त हुए भोग के साधनों से वह दूसरी स्त्री से विवाह किया। कहा है कि—

प्रवर्द्धमानः पुरुषस्त्रयाणामपघातकः।
पूर्वोपार्जितमित्राणां दाराणामथ वेश्मनाम्॥

लक्ष्मी से बढ़ता हुआ पुरुष, पूर्व परिचित मित्र, स्त्रियें और घर इन तीनों का घातक होता है अर्थात् ये तीन नवीन करने की उसको इच्छा होती है।

एकदिन फिर रात्रि में अच्छी सुख शय्या में सोते हुए श्री देव ने रुदन करती हुई किसी स्त्री को देखकर उसको पूछा—'तू कौन है? और किस कारण से ऐसे दुःख पूर्वक रोती है?' वह कहने लगी—'मैं तुम्हारे घर की लक्ष्मी हूं और अभी तुम्हारे घर का फिर त्याग करना चाहती हूं। कारण कि हे श्रीदेव! तू जो दूसरी स्त्री

परणा है वह निश्चय प्रत्यक्ष अलक्ष्मी (दरिद्रता) ही है, इसलिये उसके साथ मेरा रहना नहीं बन सके। इस कारण भक्ति सहित मन वाले तेरे भावी वियोग से दुःखित होकर मैं रुदन करती हूं।' ऐसा कह कर वह तत्काल अदृश्य हो गई।

अब प्रातःकाल उठ करके जितने में वह अपने घर को देखता है, इतने में धन धान्यादिक से सर्वत्र खाली देखने में आया। तब वह दुःखी होकर इस प्रकार विचारने लगा—'जैसे रात्रि में लक्ष्मी ने कहा था वैसा ही उसने किया। अहो ! कुबुद्धि वाले मैंने दूसरी स्त्री क्यों परणी ? कि जिसके कारण लक्ष्मी मेरे घर से चली गई। अब इसका खेद करने से क्या ? लक्ष्मी जब स्वयं जाने की इच्छा वाली होती है तब वह सचमुच इस प्रकार व्यर्थ बहाने बतलाती है, पीछे उस दिन से दरिद्रता से दुःखी होकर दूसरे के घर काम करता हुआ श्रीदेव जीवन पर्यन्त दुःखी रहा।

अहो ! जिस नगर में लक्ष्मी के कारण दूसरे को तृण सदृश भी नहीं मानता था, उस नगर में वही कष्टपूर्वक दूसरे के घर काम करने लगा। इसलिये स्वभाव से ही चपल लक्ष्मी, अबला होने पर भी बुद्धिमान् लोग अपने

कार्य के लिये प्रतिबन्ध रहित होकर उसका उपभोग करते हैं। रोष पूर्वक पैर से ठुकराती हुई लक्ष्मी ने शुचिवोद्र को छोड़ दिया, एवं उसकी निरन्तर पूजा करने वाले श्रीदेव को भी कारण वतला करके छोड़ दिया, उष्ण वायु से भी रक्षण करने वाले संचयशील को उसने छोड़ दिया और इच्छित दान देने वाले और भोगने वाले भोगदेव को भी छोड़ दिया। इसलिये उछलते हुए जलतरङ्गों की जैसी चंपल लक्ष्मी को स्थिर करने के लिये जगत् में कोई भी उपाय विद्यमान नहीं है। जो दान नहीं देता और भोगता भी नहीं वह पुरुष अपने पास धन होने पर भी संचयशील के जैसे दरिद्र है। इस जगत् में सचयशील के जैसे बहुत मनुष्य हैं कि जिनको ठग करके लक्ष्मी ने अपना दासकर्म करवाया है। परन्तु भोगदेव जैसे पुरुष तो मात्र गिनती के होंगे, कि जिसने स्वेच्छापूर्वक उसका दान और भोग करके लक्ष्मी को ही ठगली हो। लक्ष्मी को स्वयं भोगता है और दूसरे को श्रद्धा से देता है तथा देने वाले की अनुमोदना करता है, वह पुरुष भोगदेव की जैसे दोनों लोक में सुख प्राप्त करता है। घर में से लक्ष्मी अपने आप चली जाय तो बड़ा भारी दुःख होता है। परन्तु लक्ष्मी को ही छोड़ दी जाय तो पुरुषों को वह अनन्त सुखों का कारण हो सकती है। पुनः हे वत्सो! आधि, व्याधि, व्यथा

जन्म जरा और मरण रहित ऐसा अव्यय और कल्याण-कारक मोक्ष पद को यदि तुम चाहते हो तो स्वभाव से ही चपल राज्यलक्ष्मी को कुलटा की तरह सर्वथा त्याग करके संयमलक्ष्मी का ही आराधन करो।

* इति तीसरा उल्लास *

❀ चतुर्थ उल्लास ❀

गणेशों (गणधरों) से सेवनीय, कामदेव के भेदक, कैलाश (अष्टापद) के स्वामी, वृषभलांछन से लांछित और शाश्वत सुख के करने वाले (शंकर) पवित्र श्रीयुगादिनाथ (महादेव) तुमको संपत्ति के लिये हो।

अब अवंती देश का स्वामी और ऋषभदेव स्वामी का अवन्ती नाम का प्रख्यात पुत्र इस समय अंजली लगा कर, प्रभु को प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगा—'हे भगवंत ! समस्त जगत् के प्राणियों के हितकारक आपने सब संग का त्याग करके शुद्ध संयम की आराधना करने से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई, परन्तु यहाँ बिलकुल अप्राप्य होने पर भी कितनेक प्राणी तंदुलमत्स्य की तरह अनादि भव के अभ्यास से विषयों की इच्छा रखते हैं, तो पूर्व पुण्य के उदय से विना परिश्रम प्राप्त हुए इन विषय भोगों को हम एक साथ कैसे छोड़ सकें ?' पुत्र का ऐसा कहना सुनकर उनको प्रतिबोधने के लिये उद्यम वाले भगवंत सुधा सदृश मधुर वाणी से उनके आगे विषयों

की विरसता बतलाते हुए कहने लगे—'हे वत्सो ! तात्कालिक तो मधुर, परन्तु परिणाम में अति भयंकर ऐसे किंपाकफल के सदृश विषय भोग सज्जनों के त्याग करने योग्य हैं। विषयों में सामान्य मनुष्य ही मोहित होते हैं, परन्तु उत्तम पुरुष उनमें मोहित नहीं होते। अत्यन्त बीभत्स ऐसे श्लेष्म में मक्खिएँ ही मोहित होती हैं, किन्तु भ्रमर (भौंरे) मोहित नहीं होते। कहा है कि—

विषयगणः कापुरुषं करोति
वशवर्त्तिनं न सत्पुरुषं।
बध्नाति मशकमेव हि
लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥

'विषय गण निर्बल पुरुषों को वश कर लेते हैं किन्तु सत्पुरुषों को नहीं। मकड़ी की जाल मच्छर को बांध सकती है किन्तु हाथी को नहीं बांध सकती।' तुच्छ और क्षणिक इन्द्रिय सुख यह तत्त्व से सुख ही नहीं। कारण कि बुद्धिमानों ने अनन्त और शाश्वत सुख को ही इष्ट सुख माना है। जैसे मुग्ध बुद्धि वाले बालक अज्ञान से अपनी विष्टा में रमता है वैसे मोहान्ध पुरुष निंदनीय विषयरूप कीचड़ में रमता है (आनन्द पाता है)। जैसे धतुरा खाने वाले को लोह भी सुवर्ण लगता है वैसे मोहांध

पुरुषों को दुःखकारी विषय भी सुखकारी लगते हैं। बहुत काल पीछे भी जिससे दुःख प्राप्त होता है या जो क्षण वार में विनाश हो जाता है और जिसके अन्त में मृत्यु अवश्य है उसको सुख कैसे कहा जाय? विष से भी विषय विशेष बढ़ जाते हैं, कारण कि विष से तो प्राणी एक ही वार मरता है, परन्तु विषयों से तो अनन्त वार मरता है। जब एक २ इन्द्रिय के विषय से भी पतंग आदि जीव मरण पाते हैं तो एक साथ पांच इन्द्रियों का सेवन करने वाले मनुष्यों को मृत्यु प्राप्त हो इसमें आश्चर्य क्या? अर्थात् मृत्यु तो निश्चय ही है। हे वत्सो! पंचेन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुषों को इस-लोक और परलोक में भयंकर दुःख प्राप्त होते हैं। इस विषय पर एक कथा कहता हूँ उसको सुनो—

कलिंग देश में बड़े २ प्रासाद श्रेणी से सुशोभित और सुवर्णमणि मोतियों से युक्त ऐसा सुवर्णपुर नाम का नगर था। वहां राजा और मंत्रि आदि को माननीय, धन का दान करने में और दया में दक्ष तथा दाक्षिण्य (सरल) आदि गुणों का स्थान ऐसा सुमंगल नाम का सेठ रहता था। उसको स्वामी आदि के विनय में तत्पर और गृह-कार्य में कुशल ऐसी जयावली नाम की प्रेमपात्र पत्नी थी।

उसको चौसठ कला में चतुर और रूप सौभाग्यादि गुणों से साक्षात् रति तुल्य सुन्दरी नाम की पुत्री थी।

एक दिन सखी वर्ग के साथ राजमार्ग में होकर सुंदरी जा रही थी, इतने में सुरसुन्दर सेठ के सुन्दर नाम के पुत्र ने उसको देखा। उस समय उसको देखते ही सुन्दर कामदेव के बाणों से विंध गया और तन्मय मन से सर्वत्र उसको ही देखने लगा। मनुष्यों में या जंगलों में, स्वप्न में या जाग्रतावस्था में भी स्वल्प जल में रही हुई मच्छली की तरह उसको किसी जगह भी शान्ति न मिली। उसकी ऐसी स्थिति देखकर और उसके मित्रों से उसका वृत्तान्त जानकर सुरसुन्दर सेठ ने अपने पुत्र के लिये सुमंगल सेठ के पास उस कन्या को माँगा। कुल घर और वर आदि की योग्यता का विचार करके सुमंगल सेठ ने यह स्वीकार किया जिससे सुन्दर स्वस्थ हुआ।

बहुत स्वजनों से सेवित, बड़े परिवार वाला और कुबेर के समान ऋद्धिवाला कुबेर नाम का दूसरा सेठ भी वहाँ रहता था, उसने भी उसी दिन सुमंगल सेठ के घर आकर गौरवपूर्वक अपने पुत्र के लिये जयावली के पास सुन्दरी की याचना की, तब इसने भी स्वीकार कर लिया। पीछे लग्न दिन आने से स्वजनों के परिवार युक्त एक साथ वे दोनों वर सुमंगल सेठ के घर के द्वार

पर आये। नगर में समान मानने लायक, समान स्वजन और लक्ष्मी वाले तथा दान से दुर्ललित मदोन्मत हाथी जैसे निरंकुश, कवच पहरे हुए सशस्त्र अपने २ स्वामीभक्त योद्धाओं के साथ ये दोनों एक कन्या की आशा से परस्पर युद्ध करने लगे। बड़े २ गृहस्थ महाजनों ने उनको युक्ति पूर्वक समझाया किन्तु अहंकार के कारण वे युद्ध से पीछे न हटे। चारों ओर योद्धाओं का भयंकर युद्ध होने से किंकर्त्तव्यता से घबराया हुआ सुमंगल सेठ उस समय बड़ी भेंट लेकर स्वजनों के साथ राजा के पास गया और भेंट करके विनय पूर्वक अपना वृत्तान्त कहने लगा—'हे देव ! आप लग्नमण्डप में मेरे घर पधारें, कि जिससे उन दोनों के कलह का नाश हो। आपके आये विना अन्य किसी प्रकार शान्ति नहीं होगी।' प्रजा पर प्रेम भाव होने से सेठ का वचन स्वीकार कर, राजा तुरन्त लग्नमण्डप में आया और एक अच्छे पलंग पर बैठा। तब सुमंगल सेठ राजा के पैर पड़ कर अपनी पुत्री को दिखाता हुआ मन्त्री सामन्तों के समक्ष इस प्रकार विनति करने लगा—'हे स्वामी ! स्वेच्छा से इन दोनों वरों में से किसी भी वर को यह कन्या दो, कारण कि आपकी आज्ञा में विचार करने को नहीं होता, आपकी आज्ञा सब को माननीय है।' सेठ की इस प्रकार विनती सुनने पर

भी लावण्य और सौभाग्य से सुरांगना को भी तिरस्कृत करदे ऐसी उस सुन्दरी कन्या को देखकर राजा कामज्वर से पीड़ित हो गया, जिससे उसको परणने की इच्छा से इस प्रकार झूठा जवाब दिया कि—'अभी अकस्मात् मुझे अति भयंकर मस्तक पीड़ा हो गई है, उसकी व्यथा से मैं उदय अस्त को भी बराबर नहीं जान सकता, तो युक्ता-युक्त में विमूढ़ ऐसा मैं इनका अभी इन्साफ करके दोनों में से एक को किस प्रकार कन्या दे सकता हूँ ? इसलिये हे श्रेष्ठिन् ! इस समय लग्न बन्द रखो और दोनों वरों को रजा दो, पीछे विचार करके जो योग्य होगा वह मैं कहूँगा।' ऐसा राजा के कहने से लग्न बन्द रहा, वर वाले अपने अपने स्थान गये और राजा अपने महल में आया; परन्तु सुन्दरी के ऊपर तन्मयचित्त होने से वह उसको ही सर्वत्र देखने लगा। सुन्दरी का स्मरण करता हुआ राजा ध्यान-रूप कोष्ठ में बैठे हुए योगियों की तरह निश्चल आत्मा-वाला, अन्य राज्यकार्य से मुक्त और शून्य मन वाला हो गया। जैसे वमन होता हो उस समय अच्छा भोजन भी प्रिय नहीं लगता, वैसे यह सुन्दरी हृदय में आने से राजा को दूसरी एक भी प्रिया नहीं रुची। मैं मानता हूँ कि देव-ताओं में प्रत्यक्ष चमत्कार देने वाला देव तो एक कामदेव ही है, कि जो अपने अंग रहित होने पर भी समस्त

कला युक्त राजा को भी जिसने व्याकुल कर डाला है। कहा है कि—

विकलयति कलाकुशलं हसति
शुचिं पण्डितं विडम्बयति।
अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन
मकरध्वजो देवः॥

मकरध्वज (कामदेव) कलाकुशल मनुष्यों को हृदय शून्य कर देता है, पवित्रता को हँसता है, पण्डितपुरुषों को दुःखी करता है और धीर पुरुषों को एक क्षणवार में नीचे गिरा देता है।

अब सेवा के लिये आये हुए मन्त्री ने ऐसी स्थिति में रहे हुए राजा को देखकर पूछा—'हे स्वामिन्! आज आप उदास कैसे मालूम होते हैं?' तब राजा ने कहा—'हे महा-मन्त्री! कामदेव के बाणों से पीड़ित हुए मुझे उस सेठ की कन्या का शरण है या तो मरने का शरण है।' इस प्रकार सुनकर प्रधान विचार करने लगा कि—'चिन्ता, संगमेच्छा निःश्वास, ज्वर, अंग में दाह, अन्न पर अरुचि, मूर्च्छा, उन्माद, प्राणसन्देह और मरण ये दश कामीजनों की अवस्था हैं। इसलिये प्रथम राजा को युक्ति से आश्वासन देकर पीछे

मैं सुमंगल सेठ के घर जाऊँ। कारण कि पानी जाने बाद सेतुबन्ध (पुल बाँधना) निरर्थक है।' इस प्रकार विचार करके उसने राजा को कहा—'हे राजन्! यह कार्य तो अपने हाथ में ही है। कारण कि यह सुमङ्गल सेठ अपनी आज्ञा का वशवर्त्ती है, इसलिये उसके घर जाकर उसको ऐसे मिष्ट वचनों से समझाऊँगा कि जिससे वह खुश होकर अपनी कन्या आपके लिये दे देगा।' इस प्रकार मन्त्री के वचनों से राजा स्वस्थ होकर कहने लगा कि—'हे बुद्धि के सागर! तुम्हारे जैसे मन्त्री होने पर मुझे क्या दुष्प्राय है?'

पीछे सुमति मन्त्री स्वामी के कार्य में उत्सुक होकर सुमङ्गल सेठ के घर गया। सेठ ने उसका अभ्युत्थानादि से सत्कार किया। तब मन्त्री कहने लगा—'हे श्रेष्ठिन्! परिणाम में हितकर ऐसा मेरा कहना सुनो। राजा ने जब से मोहनवेली सदृश आपकी पुत्री को देखा है, तब से वह हृदय में उसका ही स्मरण करता है, रागरूप सर्प के विष से दूसरी सब क्रियाएँ भूल गया है। इसलिये हे सेठ! राजा को आपकी पुत्रीरूप औषधी किसी प्रकार आप न देंगे तो कामज्वर की व्यथा से राजा अवश्य मर जायँगे। और उसका मरण होने से यह स्वामी रहित हुई प्रजा का भी विनाश हो जायगा। इसलिये हे सेठ! इस विषय का

हृदय में विचार करके जो योग्य समझो वह करो।' मंत्री के ऐसे वचन सुनकर सेठ बोला—'मेरा प्राण भी राजा के आधीन है तो पीछे पुत्री की तो क्या बात है? इसलिये राजा उसको खुशी से परणें।' ऐसा सेठ ने मन्त्री को कहा तब मन्त्री राजा के पास जाकर कार्यसिद्धि कहा। पीछे तुरन्त ही गान्धर्व विवाह से राजा ने उसका पाणिग्रहण किया और रूप लावण्य और सौभाग्य से प्रसन्न मन वाले राजा ने उस सुंदरी को ही समस्त अन्तःपुर की अधिकारिणी करदी।

अब महातेजस्वी राजा ने जब से उस कन्या का पाणिग्रहण किया तब से कुबेर सेठ के पुत्र ने उसकी आशा छोड़ दी, परन्तु कामान्ध सुंदर तो वह राजा को विवाही गई, तो भी शेषनाग के मस्तक पर रही हुई दुष्प्राप्य मणि की तरह उसको इच्छता ही रहा। रागरूप अन्धकार के पडल से आन्तरलोचन जिसके बन्द हो गये हैं, ऐसे वह अपने भावी अशुभ को नहीं देख सका। कहा है कि—

नहि पश्यति जात्यन्धः कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो दोषमर्थी न पश्यति॥
न पश्यति दिवा घूकः काको नक्तं न पश्यति।
कामांधःकोऽपि पापीयान् दीवा नक्तं न पश्यति॥

'जन्मान्ध पुरुष नहीं देख सकता, कामान्ध तो देख ही नहीं सकता, मदोन्मत्त नहीं देखता, स्वार्थी दोषों को नहीं देखता। दिन में उल्लू पक्षी देख नहीं सकता, कौआ रात्रि में देख नहीं सकता और कामान्ध मनुष्य तो ऐसा पापी है कि वह दिन या रात्रि को भी देख नहीं सकता।' इस प्रकार होने से कामदेव के वशीभूत हुआ है आत्मा जिसका ऐसा वह सुन्दर दूसरी सब क्रियाओं को छोड़कर सर्वदा सुन्दरी के संगम का उपाय विचारने लगा।

एक दिन सुन्दरी की दासी उसको एकान्त में मिली, तब अपने स्वार्थ के लिये उसनें वस्त्र अलंकार और तांबुल से उसको बहुत सन्तुष्ट किया। इसलिये सुन्दरी के पास जाकर उसने सुन्दर का ऐसा वर्णन किया कि जिससे वह उस पर अत्यन्त अनुरागवाली हो गई। और अपनी दासी को कहने लगी कि—'हे सखी! यदि सुन्दर स्त्री के वेष से किसी प्रकार आवे तो निरन्तर उसको यहाँ लेती आ।' पीछे रानी ने राजा को कहा कि—'हे देव! सुहवा नाम की मेरी सखी है, वह आपकी आज्ञा हो तो कंचुकिओं (अन्तःपुर के पहरेदारों) की रोक टोक विना वह मेरे पास हमेशा यहाँ अन्तःपुर में आया करे।' राजा ने आज्ञा दी, जिससे दासी के साथ सुंदर स्त्री वेश से सुंदरी के महल में प्रतिदिन आने लगा और स्वेच्छा पूर्वक सुन्दरी

के साथ क्रीड़ा करते करते एक क्षण की तरह सुंदर ने बहुत दिन व्यतीत किये।

एक दिन सुन्दरी ने उसको कहा कि—'मेरे लिये यम के घर जैसे इस राजमहल में तू हमेशा आता है, तो मेरे शरीर में तूने ऐसी क्या अधिकता देखी है? फिर अत्यन्त विषय में आसक्त होकर यहाँ संकट में आते समय जैसे विलाव दूध को देखता है परन्तु लकड़ी को नहीं देखता, वैसे तू संकट को नहीं देखता?' ऐसा वचन सुन कर कुछ हँस करके सुन्दर कहने लगा—'हे सुन्दरी! सुन, गुण की अधिकता विना यम के मुख में कौन प्रवेश करे? यदि अच्छे गोल और अमृत को झरने वाले ऐसे शरदृऋतु का चन्द्रमण्डल भी अकलंक हो जाय तब ही तेरे मुख की तुलना के योग्य हो अर्थात् निष्कलंक चन्द्रमण्डल के जैसा तेरा मुख है। कान पर्यन्त विशाल और जिसमें दो कृष्ण तारे शोभायमान हैं ऐसे तेरे नेत्र हैं, मानो भीतर भ्रमर छुप रहे हों, ऐसे दो कमल मालूम होते हैं। जिसमें जातिवन्त चन्दन, कर्पूर और कस्तूरी की अच्छी सुगन्ध है ऐसा तेरा श्वास वायु है, वह हे सुभ्रु! अल्प पुण्य वाले कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। अमृत अवश्य पातालकुण्ड में है, ऐसे कवि लोग कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह अमृत तो तेरी जिह्वा के अग्रभाग पर और तेरे अधर (होंठ) पर है।

ऐसा मैं मानता हूँ। मक्खन और आक की रुई आदि में कोमल और मनोहर स्पर्श है परन्तु वह तेरे शरीरस्पर्श की तुलना के शतांश भाग में भी नहीं है। अधिक क्या कहूँ, पूर्णिमा के चन्द्र जैसा तेरा मुख है, भयभीत हुए मृगों के नेत्र जैसे तेरे नेत्र हैं, हाथी के जैसी तेरी गति है, बाल-हस्ति के शुण्ड जैसी तेरी जंघा हैं, प्रवाल (मूंगे) की सदृश तेरे रक्त होंठ हैं, गजकुम्भ के जैसे उन्नत तेरे स्तन हैं और समस्त अवयवों में रहे हुए सौन्दर्य के अभङ्ग सौभाग्य से शोभायमान ऐसी हे वल्लभे! समस्त ललनाओं में तू ही शृङ्गार रस की सरिता है।' ऐसे सुन्दर के वचनों को सुनकर फिर हँसमुखी सुन्दरी उसको कहने लगी—'हे सुन्दर! सुन, तू कहता है वे सब ठीक, परन्तु परिणाम में अपना हित नहीं देखता, यह अच्छा नहीं। दूसरे की आपत्ति से संतोष पाने वाले कुदृष्टि दुर्जन लोग अनेक हैं। दूसरे पर सद् असद् दोष का आरोप रखना यही उनकी एक प्रकार की क्रीड़ा हैं। कभी तू यहाँ आता है यह बात दुर्जनों के मुख से राजा को जानने में आवेगी तो यह क्रोधांध होकर तुझको भयंकर दुःखी करेगा। इसलिये हे सुंदर! यह कार्य भविष्य में तुझे लाभदायक न होगा। हर एक बिल में हाथ डाले उसको कुशल कहाँ से?' यह सुनकर सुन्दर कहने लगा—'हे सुभ्रु! राजा तो मुझे मारेगा, या

नहीं मारेगा, परन्तु तेरा वियोग होते ही यह मेरा प्राण तो अभी ही चला जायगा। इसलिये हे कान्ते! तू खेद न कर, जो होनहार होगा वह होगा, परन्तु अपना संयोग यावज्जीव निश्चल रहो।'

इस प्रकार सुन्दर और सुन्दरी की सविस्तार उक्ति प्रत्युक्ति को दीवार के आंतर रह कर स्वयं राजा ने ही सुन लिया। पीछे मन में अतिशय क्रोध लाकर राजा इस प्रकार विचार करने लगा—गहन स्त्री-चरित्र को चतुर पुरुष भी नहीं जान सकते। कहा है कि—

प्राप्तुं पारमपारस्य पारावारस्य पार्यते।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां दुश्चरित्रस्य नो पुनः॥

'अपार समुद्र का पार हो सकता है, परन्तु स्वभाव से ही वक्र ऐसी स्त्रियों के चरित्र का पार नहीं हो सकता।' कुलीन और शीलवती दूसरी राणियों की अवज्ञा करके जिसको मैंने पटरानी की, अहा! इसका यह चरित्र? परन्तु इस पर आसक्त हो कर जो पुरुष यहाँ सखी के मिष (बहाना) से हमेशा आता है, उस पुरुष को ही प्रथम सभा में प्रकट करके शिक्षा देनी।' ऐसा विचार करके क्रोध से हृदय में जलते हुए भी वाहर से शान्त वदन से राजा सभा में आकर बैठा। अब कपट से स्त्री-

वेश धारण करने वाला सुन्दर जब राजद्वार में से बाहर निकलता था, तब राजा के संकेत से विदूषक ने उसके नीचे के वस्त्र को खैंच लिया और उसी स्थिति में राज-सभा में ले गया, तब यह पुरुष है ऐसा सब सभासदों के जानने में आया। जिससे तुरन्त ही उसको अन्यायी समझ कर राजपुरुषों ने बांध लिया। पीछे राजा ने उसके नाक कान को कटवा कर, जीभ और नेत्र को खिंचवा कर, शरीर की चमड़ी उतरवा कर, सब अंग पर क्षार लगवाया। पीछे जिसके शरीर पर मसी का विलेपन किया है, जिसका शरीर झरते हुए रुधिर से गीला हो गया है, और जिसके मस्तक पर पत्ते का छत्र धरने में आया है, ऐसे उसको बिना कान वाले गधे पर बैठा कर नीच लोग जिसको हर्ष से देख रहे हैं, सज्जन जिसको खेदपूर्वक देख रहे हैं और बालक जिसको कोलाहल तथा कौतुक पूर्वक देख रहे हैं ऐसी स्थिति में काहल और डिंडिम आदि वाद्य बजाते २ सारे शहर में सब बड़े २ रास्ते घुमा कर नगर के बाहर ले जाया गया और राजा की आज्ञा से शूली पर चढ़ाया गया। इस प्रकार उग्र पाप कर्मों से यहाँ भी विडम्बना सहन करनी पड़ती है। पीछे रौद्रध्यान से वह सुंदर मर कर सातवीं नारकी में गया और तेतीस सागरोपम के आयुष्य वाला अत्यन्त दुःखी नारकी हुआ।

अब राजा ने सुन्दरी पर रोष लाकर उसके भी नाक और कान काट कर के अन्तःपुर के बाहर निकाल दी, तब वह बड़ी दुःखी होती हुई पिता के घर गई। घर आई हुई सुन्दरी की ऐसी स्थिति देख कर उसके मात पिता बहुत दुःखी हुए और अत्यन्त विलाप करने लगे। प्रधान, सेठ और राजा की प्रथम प्रार्थनीय होकर, हे वत्से! इस समय तू इतनी बड़ी दुःखी कैसे हुई? प्रथम तू रसयुक्त इक्षुलता (गन्ना) की तरह राजा को इष्ट थी और अभी विषलता की तरह अकस्मात् अनिष्ट क्यों हो गई? पहले जिस पुत्री को वस्त्राभूषणों से सुशोभित देखी थी, उसको इस समय ऐसी दुःखी देखने पर भी जिन माता पिता का हृदय तुरन्त ही फट न गया! इससे यह हृदय अवश्य वज्र से ही घड़ा हुआ है ऐसा मालूम होता है। पुत्री दुःशील हो, सपत्नी वाली हो, भर्त्तार को इष्ट न हो या सन्तान रहित हो तो वह माता पिता को दुःख देने वाली ही होती है। परगृह के भूषण रूप, कलंक के स्थान रूप और पिता के धन को हरण करने वाली ऐसी पुत्री जिस को नहीं है, वे ही इस जगत् में सुखी हैं। इन्द्रियों की चपलता से इस सुन्दरी ने कदाचित् कुछ अकृत्य किया, तो भी हे प्रजापालक! आपको इस पर ऐसा करना उचित नहीं था। कहा है कि—

अपराधशतं साधुः सहेदेकोपकारतः ।
शतं चोपकृतीर्नीचो नाशयेदेकदुष्कृतान् ॥

'सत्पुरुष एक उपकार से सौ अपराधों को सहन करता है और नीच पुरुष सौ उपकारों को एक अपराध से नाश करता है।' अपराधी मनुष्यों के पर उत्तम पुरुष अवश्य क्रोध रहित होते हैं; मध्यम पुरुष मध्यम क्रोध करते हैं और अधम पुरुष बड़ा क्रोध करते हैं। परन्तु समरांगण में आपके हाथ गेंद की तरह मदोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थलों से क्रीड़ा करते थे, हे वीर! वे हाथ आज इस अबला पर कैसे चल सके?'

इस प्रकार विलाप करके और पुत्री को गले लगकर उसके माता पिता इस प्रकार रोये कि जिससे समीप के सब मनुष्यों के आँखों में अश्रु आ गये। पीछे आहार पाणी का त्याग करके दुःख से मन में दुःखी होती हुई सुन्दरी अपने माता पिता को गद्‌ गद्‌ वचनों से कहने लगी—'फैलती हुई यशरूप चांदनी से जिसने भूतल को उज्वल किया है, ऐसे हे तात! आपको, जैसे मृग चन्द्रमा को कलंकित करता है वैसे मैंने कलंकित किया है। दुष्कर्म के परिताप रूप अग्नि से जिसका मन जलता है, ऐसे मेरे हे सर्वदा अपत्यवत्सल माता पिता! आप सब अपराध क्षमा करो (आप क्षमने योग्य हैं)। हे अंबा!

आपकी पुत्री और राजा की पटरानी होकर के मैंने ऐसी लघुता पाई, जिससे मेरा मन बहुत दुःखी होता है। मेरा यह प्राण अब पांच दिनों का पाहुना है, इसमें मेरा कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं है; परन्तु यह कलंक युक्त मरण ही मुझे अधिक दुःखी करता है। जब इन्द्रिय रूप तस्करों ने मेरा निर्मल शीलरूप धन लूट लिया, तब से ही वस्तुतः मैं मर गई हूँ। अब जो माँगने से मिलता हो तो भवोभव वत्सल ऐसे आप मेरे माता पिता हो और इस प्रकार का दुःख प्राप्त न हो, ऐसी मैं इच्छा करती हूँ।

इस प्रकार कहने बाद स्वयमेव श्वास को रोक करके सुन्दरी मरण पाकर नरक में नारकी हुई और अनेक प्रकार के दुःसह वेदना पाई। इस प्रकार सुन्दर और सुन्दरी को अत्यन्त विषयाशक्ति से इसलोक और पर-लोक में भयंकर दुःख वेदना प्राप्त हुई। इसलिये विषयों के ऐसे भयङ्कर दुःख विपाक को समझ कर हे सौम्यो! विष की तरह विषय की आशा दूर से ही छोड़ दो। ये विषय मुख्य तो प्रमदा (स्त्री) के कारण ही रहते हैं और स्त्रियें प्रायः अति चंचल होती हैं। इसलिये इन विषयों को भी जयंतसेन राजा की तरह सुज्ञ पुरुषों को छोड़ देना चाहिये। उसका दृष्टान्त इस प्रकार है—

समस्त सम्पत्ति का गृहरूप विशाला नाम की महा-पुरी में प्रबल सामन्तों से सेवनीय, अपने पराक्रम से

सत्कीर्त्ति प्राप्त करने वाला, बहत्तर कलाओं में चतुर, दुष्टजनों का दमन करने वाला और विद्वान् लोगों के मन को रंजन करने वाला जयंतसेन नाम का राजा था। एक दिन अनेक प्रकार के कलाओं में कुशल और अपने को पण्डित मानने वाला राजा सभा में बैठ कर सभासदों को अहंकार सहित कहने लगा—'अहो! सभासदो! कहो, इस जगत् में कला विद्या और विज्ञान आदि कोई अद्भुत है कि जिसको मैं न जानता हूँ?' राजा का ऐसा प्रश्न सुन कर राजा के मन को अनुसरने वाले प्रियवादी सब बोले—'हे नराधीश! साक्षात् सरस्वती तुल्य आप सब जानते हैं।' उस समय एक वृद्ध मंत्री विचारने लगा—'अहो! इस राजा की कितनी मूर्खता है कि अभिमान से अपने आपकी कुशलता की प्रशंसा करता है, अभिमान से फूले हुए इस राजा के आगे जो मीठे बोलने वाले हैं, वे अवश्य जलते हुए दावानल को वायुके संयोग जैसे हैं। प्रियवादी मंत्री प्रशंसा के पात्र नहीं होते, जिससे कटुक परन्तु परिणाम में हितकारक ऐसा कुछ भी मैं राजा से कहूं। कहा है कि—

वैद्यो गुरुश्च मंत्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदाः।
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते॥

'जिस राजा के वैद्य, गुरु और मंत्री ये मीठे बोलने वाले हों, उस राजा का शरीर, धर्म और भण्डार ये तुरन्त ही क्षीण हो जाते हैं।' ऐसा हृदय में विचार कर के राजा हितान्वेषी मंत्री उसका अभिमान तोड़ने के लिये या उसके मन में संवेग-रङ्ग लाने के लिये इस प्रकार बोला—'हे धर्मशास्त्र और कला शास्त्र में कुशल! हे धन्य! हे लक्ष्मी के भण्डार! हे महीपति! अत्यन्त दुर्बोध स्त्री चरित्र के सिवाय दूसरा सब आप जानते हैं। जो पुरुष पली से समुद्र के पानी का प्रमाण करने में समर्थ हैं, वे भी गहन स्त्री चरित्र को अच्छी तरह नहीं जान सकता।' कहा है कि—

उपलनिकषं सुवर्णं पुरुषा व्यवहारनिकषणा ज्ञेयाः।
धूर्निकषा गोवृषभाः स्त्रीणां तु न विद्यते निकषः॥

'सुवर्ण की कसौटी पत्थर है, पुरुषों की कसौटी व्यवहार है और गौ-बैलों की कसौटी धुर है परन्तु स्त्रियों की किसी भी प्रकार की कसौटी ही नहीं है।' मंत्री के ऐसे वचनों से अपने वचन में आघात हुआ समझ कर, लज्जित होकर राजा विचार करने लगा—'दुर्बोध स्त्री-चरित्र को भी मैं देखूँगा और जन्मते ही एक कन्या को तलघर (पाताल घर) में रख कर, वह लक्षणों से दुःशील होगी तो भी उसको सुशील बनाऊँगा।' ऐसा विचार

करके वह अपने सामन्तों को कहने लगा कि—'तुम्हारे किसी को जो कन्या जन्मे उसको जन्मते ही यहां मेरे समक्ष लाकर मुझे बतलाना।'

एक दिन पवन नाम के सामन्त ने तुरन्त की जन्मी हुई अपनी बालिका को लाकर राजा को बतलायी, तब राजा ने शास्त्र जानने वाले को उसका रूप बतलाया। उन्होंने उसका जन्म लग्न और अंगों के लक्षण देख कर कहा कि यह व्यभिचारिणी होगी, ऐसा विचार करके राजा को कहा कि—'हे राजन्! यह लड़की भविष्य में तीन भर्तारों का क्रमशः त्याग कर के परदेश में जीवन पर्यन्त वेश्या होगी।' ऐसा सुन कर इनका कहना मिथ्या करने के लिये और लड़की को पतिव्रता रखने के लिये उसको तलघर में रखी।

अब राजा की आज्ञा से उस तलघर में रहकर धाई-माता उसका पालन पोषण करने लगी और क्रमशः वह कामदेव के क्रीड़ावन के सदृश यौवनवती हुई। पीछे राजा ने उस धाई को तलघर से बाहर निकाल कर इस नव-युवती को राजा ने शनैः २ विज्ञानोचितकला में कुशल किया। यौवन से प्रकट होने वाले लावण्य, रूप और सौभाग्य से सुशोभित उस कन्या को राजा प्रतिदिन प्रेम से खिलाता था अर्थात् उसके साथ कामक्रीड़ा करने लगा।

एक दिन उस युवती ने राजा को पूछा कि—'हे राजन्! इस पृथ्वी की पीठ कितनी बड़ी है? मेरी माता कहाँ गई? और आप यहाँ आकर के वापिस कहाँ जाते हैं?' तब राजा ने धूर्त्तता से मनकल्पित जवाब दिया कि— 'हे प्रिये! यह पृथ्वी की पीठ इतनी ही है, तेरी माता मर गई है और मैं देवों के जैसे स्वेच्छापूर्वक सर्वत्र अस्खलित जाता आता हूँ। इस समय इस पृथ्वी की पीठ पर अपन दो ही स्त्री पुरुष हैं।' ऐसा सुनकर जिसने अन्य कुछ भी देखा नहीं है और जो जन्म से ही तलघर में रही हुई है जिससे उसने कुआँ के मेढक की तरह सब सत्य मान लिया।

पातालघर में रहने से राजा ने उसका पातालसुन्दरी नाम रखा। वह दूसरे किसी भी पुरुष का नाम भी नहीं जानती थी, जिससे शुद्ध शीलवती होकर रहती थी। राजा भी सब अन्तःपुर का त्याग करके और राजकार्य में शिथिल होकर, कन्या के रूप आदि से मोहित हो निरन्तर उस पर ही आसक्त हो गया था और अधिक समय उसके पास ही व्यतीत करता था।

एक दिन उसी नगरी में रूप में कामदेव जैसा और बड़ी ऋद्धिवाला अनंगदेव नाम का कोई चतुर सार्थवाह आया। बहुमूल्य मुक्तामणि के हार आदि की भेंट धर करके अनेक राजाओं के मन को रञ्जन करने वाला वह

देव की तरह इस राजा को भी भेंट धर कर नमस्कार किया। राजा ने भी प्रसन्नमुख होकर उसकी चुंगी माफ़ करदी और उसको अभिनन्दन देकर गुणवन्त को प्रिय राजा ने 'सभा में आप प्रतिदिन आवें' इस प्रकार कहा। राजा की कृपा से वह सार्थवाह मन में हर्षित होकर किराये लिये हुए बड़े घर में अपने परिवार के साथ रहने लगा और दूसरे देशों से लाये हुये बहुमूल्य चार प्रकार* के किराने से शुद्ध व्यापार करते हुए उसने बहुत द्रव्य उपार्जन किया। जिसने बहुत स्थान देखे हैं, जो दूसरे के मन को जानने में कुशल और बात-चीत करने में चतुर ऐसा वह सार्थवाह यथावकाश राजा के पास आकर उसके मन को खुश करने लगा।

राजा पातालसुन्दरी के रूप में अत्यन्त मोहित हो जाने से मन्त्री आदि की सेवा के लिये ही मन रहित सभा में आता था और आकुलता से मन्त्रियों के कहे हुए राज्य-कार्य का विचार करने के लिये क्षण वार बैठ कर फिर तुरन्त ही चला जाता था। ऐसी चेष्टा से उसको विमनस्क (मन रहित) जानकर उसके कारण को जानने की इच्छा वाले कौतुकी सार्थवाह ने एक दिन राजा को चामर करने

---

* १ गणिम—गिनकर। २ धरिम—तोलकर। ३ मेय—मापकर। और ४ परिच्छेद्य—टुकड़े करके।

वाली कामपताका नाम की वेश्या को धनादि से सन्तुष्ट करके एकान्त में पूछने लगा—'हे भद्रे ! इस राजा को व्यसन तो कुछ भी देखने में नहीं आता, तो भी सभा में विलम्ब से आता है और वापिस तुरन्त उठ कर चला जाता है उसका क्या कारण है ? मैं जानने की इच्छा करता हूं, इसलिये जो कारण हो उसको निशंकः पूर्वक कह।' यह सुनकर वेश्या कहने लगी—'हे सार्थवाह ! यह तो मैं भी अच्छी तरह नहीं जानती, परन्तु अन्तःपुर में अभी ऐसी बात चलती है कि जन्म से, भूमितल में रखी हुई किसी सुन्दरी के साथ वह क्रीड़ा करने जाता है।' इतना सुनते ही सार्थवाह कामविह्वल हो गया और यौवन तथा द्रव्य के उन्माद से वह इस प्रकार मन में विचारने लगा कि— 'अहो ! लावण्यादि गुणों से जो प्रमदा (रमणी या स्त्री) सभा में बैठे हुए राजा के हृदय में स्फुरायमान हो रही है, वह कैसी होगी ? इसलिये जब तक इन नेत्रों से उस पाताल-सुन्दरी को न देखूं, वहाँ तक मेरा धन, यौवन और जीवन, ये सब निष्फल हैं।' इस प्रकार मन में कामदेव से तप्त हो गया, तो भी बाहर से चेष्टा को रोक कर धूर्त्तपन से अवज्ञा पूर्वक हँसते २ गणिका को कहने लगा—'जिसने बाल्या-वस्था से ही दूसरे किसी मनुष्य को देखा नहीं और जो बेचारी भूमितल में ही पड़ी रही है, वह कामिनी कामभोग

की योग्यता में कुशल कहां से होगी ?' ऐसा कहकर वेश्या को रवाना किया।

उस सुन्दरी को देखने के लिये प्रथम तो भूमितल कहाँ है, इसको जानने के लिये राजा की आज्ञा से राजमहल में सर्वत्र बिना रोक टोक घूमता था और भूमितल का स्थान जानने के लिये पैर से भूमि को आघात करता हुआ चलता था। ऐसे चलने से 'यह धन से पागल हो गया है जिससे इस प्रकार नाचता फिरता है।' इस प्रकार लोगों ने मान लिया था। एक दिन किसी जगह भूमि को पोली जानने से यहाँ भूमितल होना चाहिये, ऐसा विचार करके कुछ हर्षित हुआ। पीछे उस धूर्त्त सार्थवाह ने अपने घर से उस भूमितल तक अपने मनुष्यों के द्वारा मूल और जोड़ न दिखे ऐसी एक सुरङ्ग खुदवाई।

एक दिन राजा जब भूमिगृह में से बाहर निकला था तब काम से विह्वल हुआ अनंगदेव सार्थवाह मनोहर शृङ्गार करके सुरङ्ग के रास्ते से उस भूमिगृह में गया। वहाँ क्रीड़ा के श्रम से सोती हुई सुन्दरी को आहिस्ते से जागृत की। तब मानो वह लज्जित हो गई हो। ऐसे ससंभ्रांत उठी और रूपवान् बहुत आभूषणों से सुशोभित मानो प्रत्यक्ष कामदेव ही है ऐसे सार्थवाह को देखकर खुश होती हुई पाताल सुन्दरी उसको राजा समझ कर

इस प्रकार बोली—'हे स्वामिन् ! आज नवीन रूप वाले और वस्त्रवाले क्यों ?' ऐसा सुन कर सार्थवाह कोमल वचनों से उसको कहने लगा—'हे भद्रे ! मैं तेरा पति राजा नहीं हूँ, परन्तु बहुत ऋद्धि वाला अनंगदेव नाम का सार्थवाह हूं। तेरे गुणों से आकर्षित होकर, जैसे कमलिनी के पास भ्रमर आता है वैसे मैं तेरे पास आया हूँ। लोचन को अतृप्ति रूप स्वरूप वाली हे शुभे ! आज तेरे दर्शन से मेरे चक्षु बनाने वाले विधाता का परिश्रम सफल हुआ।' इत्यादि मधुर वचनों से उसको खुश करके इस प्रकार वश कर लिया कि जिससे उसी दिन से ही उसके ऊपर वह अनुराग वाली हो गई और उसके साथ क्रीड़ा करने लगी। राजा के आने के समय तक वहाँ सुख से रह कर, पीछे सुरंग का द्वार बंद करके जैसे आया था वैसे चला गया। इस प्रकार प्रतिदिन आने के समागम से उन्हों का प्रेम दिन प्रति बढ़ता गया और भोग सुखों में एक क्षण के जैसे कितनाक समय चला गया।

जैसे साँप के मुख में चूहा फँस जाता है। वैसे कभी अज्ञानता के वश से भूमिगृह में बैठे हुए राजा के मुख में अकस्मात् न आ जाऊँ इसलिये राजा के अभाव को सूचित करने वाली और सुन्दरी के बाल में बंधी हुई घुघुरु, विरह को नहीं सहने वाली सुन्दरी के पास वह

वजवाता था। अर्थात् राजा जब भूमितल से बाहर चला जाता था, तब पाताल सुन्दरी मस्तक हिला कर बालों से बंधी हुई घुघुरु की आवाज करती थी।

एक दिन वह अनंगदेव को पूछने लगी—'हे कान्त! यह पृथ्वी तो इतनी ही है, तो आप कहां जाते हैं और कहां से आते हैं?' यह सुनकर और कुछ हँस कर सेठ कहने लगा—'हे वल्लभे! तू कूप-मण्डूक की जैसी मालूम होती है, जिससे अनेक प्रकार के देश, नगर आदि पदार्थों से युक्त विशाल पृथ्वी को तू नहीं जानती।' पीछे उसने कुआँ, नगर, वगीचे, पुरुष, स्त्री, हाथी और घोड़े आदि से व्याप्त पृथ्वी को भूतल पर लिख कर वतलाई। लोचन के अमृत तुल्य इस चित्र को देखकर वेचारी अत्यन्त हर्षित होकर कहने लगी—'हे प्रिय! आप दूसरे के हित करने में तत्पर हैं, जिससे ये अदृष्ट वस्तुएँ लिख कर मुझे वतलाईं, परन्तु अव किसी समय ये वस्तु मुझे प्रत्यक्ष वतलाओ कि जिससे हे स्वामिन्! मैं मेरे चक्षुओं की सफलता करूं।'

पीछे एक दिन जब राजा बड़ी सवारी से निकला था, तब समय को जानने वाले सेठ ने सुन्दरी को सुरंग द्वारा लाकर, अपने घर के गवाक्ष में बैठाई। इतने में जिसके मस्तक पर मेघाडंवर तुल्य छत्र शोभ रहा है, दोनों

तरफ वारांगनाओं के द्वारा चामर हो रहे हैं; जो भद्र जाति के हाथी पर बैठा हुआ, सब प्रकार के आभूषणों से शोभायमान, मंत्री-सामन्तों से सेवनीय, चतुरंगिणी (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) सेना से घिरा हुआ, राजमार्ग में चलते समय भाट-चारण जिसकी जयध्वनि कर रहे हैं, जिसके आगे अनेक प्रकार के वाजिंत्रों से युक्त बत्तीस नाटक हो रहे हैं और मानो कौतुक से स्वर्गलोक में से पृथ्वी पर आये हुए इन्द्र ही हैं, ऐसे राजा को गवाक्ष में बैठी हुई उस सुन्दरी ने देखा और विचारने लगी कि—'यह स्वयं सर्वत्र उपवनादि में स्वेच्छापूर्वक घूम घूम कर निरन्तर अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता है और मुझको बाल्यावस्था से ही कैदखाने के तुल्य भूमिगृह में डाल कर 'पृथ्वी इतनी ही है' इत्यादि वाक्यों से ठगता है। पर दुःख को नहीं जानने वाला यह दुरात्मा मुझको इस प्रकार दुःख सागर में डालने से अवश्य मेरे पूर्वभव का शत्रु ही है, ऐसा मैं मानती हूँ। भोग के साधनों से वह मुझे खुश करता है, परन्तु यह दुर्जन मुख का मीठा और मन का कपटी है।' इस प्रकार राजा के ऊपर से उसका मन विरक्त हो गया। फिर वह विचार करती है कि—'यह सार्थवाह' मेरे पूर्वभव का अवश्य सम्बन्धी है, कि जिसने चित्र से यह आश्चर्यमयी पृथ्वी मुझे बतलायी।

यदि यह प्रीतिपात्र सार्थवाह मुझे नहीं मिलता तो कृपण की लक्ष्मी के समान मैं भूमिगृह में ही नाश हो जाती। दुःखी प्राणियों के मित्रतुल्य इसने अपवित्र गुप्तगृह में से मुझे मुक्त की है।' इस प्रकार सार्थवाह के ऊपर वह बहुत अनुराग वाली हुई। पीछे जब राजा भूमिगृह में आता तब वह हृदय में दंभ और द्वेष रखती हुई भी बाह्यवृत्ति से उसका निरन्तर विनयभाव रखती थी।

एक दिन 'इस राजा के जीवित रहने पर इस तल-घर में से मेरा छुटकारा नहीं होगा' ऐसा विचार कर दुष्ट आशय वाली उस पापिनी ने विषमिश्रित बीजोरा का फल राजा को खाने दिया। इसके स्वाद से व्याकुल होकर वह तुरन्त ही बाहर निकल गया। वहां उसके अंगरक्षक मनुष्यों ने उसके शरीर पर शुक्ति जल का छिटकाव किया, जिससे वह स्वस्थ हो गया। ऐसा बनाव हो जाने पर भी स्नेह के कारण पातालसुन्दरी के कपट को उसने लेशमात्र भी मन में शंका नहीं की। उसके बाद दूसरे उपाय करने पर भी राजा मरा नहीं, तब तलघर से छूटने की इच्छा वाली सुन्दरी सार्थवाह को कहने लगी—'हे प्रिय! आप एक दिन भोजन के लिये राजा को निमंत्रण करो कि जिससे मैं उसके समक्ष मेरी प्रतिकृति (नकल) करूं।' यह सुन कर वह कहने लगा—

'हे देवि ! विना निमित्त राजा को मैं किस प्रकार निमंत्रण करूं ? कारण कि विना कौतुक हँसना नहीं आता।' सुन्दरी ने कहा कि—'एक मास तक कपट से आप बीमार रहें और पीछे निरोग होने बाद रोगमुक्त स्नान के कारण उसको निमंत्रण करो।' प्रेमपाश से बंधे हुए और उसकी आज्ञा के अनुसार चलने वाले सार्थवाह ने उसका वचन स्वीकार किया और उसी प्रकार बीमार पड़ा। उस समय विघ्नभूत राजसेवा से रहित पातालसुन्दरी के भोग को आनन्द देने वाला मानने लगा।

अब किसी समय वह वैद्य को बुलावे और किसी समय औषधि भी मँगवावे, जिससे नागरिक लोग उसके घर सुख शान्ति पूछने के लिये आने लगे। कितनेक दिन बाद "सार्थवाह को अब कुछ ठीक है" ऐसी सर्वत्र लोकों में बात चलाई और एक मास पूरा हुआ तब अच्छे दिन अनेक प्रकार के मंगलाचार पूर्वक उसने रोगमुक्त स्नान किया। पीछे अच्छे वस्त्रों को पहिन कर और देवगुरु का स्मरण करके राजमन्दिर में गया, वहाँ उसने राजा को विनति की—'हे राजन् ! आपकी कृपा से मैं निरोगी हो गया हूँ, इसलिये एक दिन भोजन के लिये मेरे घर पधारें, मेरे पर प्रसन्न होकर इतनी कृपा करें।' ऐसा सुन कर समस्त राजवर्ग को माननीय सार्थवाह की दाक्षिण्यता

(सरलता) से राजा ने उसके भोजन का निमन्त्रण स्वीकार किया।

पीछे सार्थवाह ने हर्षित होकर अपने घर पांच वर्णों के वस्त्रों से सुशोभित, विशाल और मनोहर मण्डप तैयार करवाया। सत्रह प्रकार के भोजन और अठारह प्रकार के शाक तैयार कराये और पातालसुन्दरी को यह सब वृत्तान्त निवेदन किया। तब वह कहने लगी कि—'मैं स्वयं राजा को भोजन परोसूंगी।' यह सुन कर भय से काँपता हुआ वह बोला—'यदि राजा तुझे पहचान लेंगे तो मेरा सब द्रव्य लूट कर मुझे अवश्य मरवा डालेगा।' ऐसा सुन कर वह कहने लगी—'मरण से डरता हुआ तू सचमुच वनिया है, किन्तु हे मूढ़! मेरा कहना न मानेगा तो भी तू मरेगा।' इस प्रकार उसको क्रोधित हुई जान कर फिर वह भय पूर्वक कहने लगा—'हे देवी! यह तो मैंने हँसी में ही कहा है, इसलिये तू कोप नहीं कर। कारण कि तेरी आज्ञा के आधीन मेरा मन लेशमात्र भी तेरे से पृथक् न होगा।' पीछे खुश हुई पातालसुन्दरी मनोहर शृङ्गार धारण करके गुप्तमार्ग से सार्थवाह के घर आई।

यहाँ बड़े आडम्बर पूर्वक मंत्रीवर्ग के साथ राजा सार्थवाह के घर आकर भोजन करने बैठा। तब सार्थवाह ने तुरन्त ही पातालसुन्दरी को आज्ञा दी कि—'हे प्रिये!

आज तो राजा को तू ही परोस।' जिससे कुलबालिका की तरह लज्जा पूर्वक परोसने के लिये राजा के आगे बारम्बार गमनागमन करने लगी। उसको देख कर आश्चर्य पूर्वक राजा मन में विचारने लगा कि—'यह पाताल सुन्दरी मेरी पत्नी यहां किस प्रकार आयी होगी? ऐसे तलघर में से वह यहाँ किस तरह आ सके?

मालूम होता है कि उसके जैसी इस सार्थवाह की स्त्री होगी। तो भी तलघर में शीघ्र ही जाकर मैं तलाश करूँ, कारण कि बिना तलाश किये मुझे शान्ति नहीं होगी।' ऐसा विचार करके वहाँ से शीघ्र ही जाने को था, परन्तु लोक लज्जा से बिना मन भोजन किया। राजा को उत्सुक मनवाला देख कर सार्थवाह ने पूछा कि—'हे नाथ! इतनी शीघ्रता क्यों? क्षणवार यहाँ कुछ विश्रान्ति तो लीजिये।' उसके समाधान के लिये राजा ने कहा—'इस समय राज्यकार्यों की व्यग्रता होने से ठह-रना न हो सकेगा।' ऐसा कह कर राजा शीघ्र ही तलघर में गया। उसके पहले ही पातालसुन्दरी वहाँ आकरके और गुप्तद्वार तुरन्त बंद करके कपट निद्रा से सो रही। जब राजा अपना मोहर लगा हुआ द्वार खोल कर तलघर में आया, तब सुन्दरी को सोती हुई देख कर आहिस्ते से उसको जगाई। वह भी सहसा उठी और तुरन्त उवासी

खानें लगी, तथा पूर्व की तरह यथाविधि विनयोपचार करने लगी। राजा ने उसको असाधारण वस्त्र पहना करके अच्छी तरह उसकी परीक्षा की, तो कुछ भी अन्तर उसको समझने में नहीं आया। तब 'जिस तलघर में पवन का भी संचार नहीं होता है, वहाँ इस अबला के गमनागमन का सम्भव कैसे हो?' इस प्रकार मन का समाधान करके राजा विचारने लगा—'अरे! झूठी भ्रांति से मैंने कितना पाप बाँध लिया? इसके रूप और लावण्य के सदृश उस व्यवहारी की ही स्त्री थी। कारण कि परम्परा से लोकोक्ति ऐसी चली आती है कि 'जगत् में एक के सदृश कई एक मनुष्य होते हैं।' पीछे वह रागांध होकर उसको महासती मानने लगा। रागांध पुरुष प्रत्यक्ष देखे हुए दोषों को भी दोष रूप नहीं मानते।

अब एक मास व्यतीत हुए बाद तलघर में रहने से पातालसुन्दरी अत्यन्त दुःखी होने लगी, जिससे सार्थ-वाह को एकान्त में कहने लगी—'अब लेन देन साफ़ करके व्यापार को शीघ्र ही बन्द करो और अच्छे २ जहाजों का संग्रह करो कि जिससे अपन दूसरे देश में चले जावें। राजा को इस प्रकार बड़ी भेंट करो कि जिससे वह अपने बन्दर (समुद्र किनारा) तक अपने को पहुँचाने के लिये स्वयं आवे।' इस प्रकार इसके कहने से सार्थवाह ने सब

सामग्री तैयार की और हाथ में बड़ी भेंट ले कर राजा के पास जा करके नमस्कार पूर्वक विनति की। 'हे राजन्! आपकी कृपादृष्टि से यहाँ रह कर मैंने बहुत द्रव्य प्राप्त किया और सर्वत्र अच्छा यशः भी हुआ। अब इस समय मुझे बुलाने के लिये मेरे पिता का पत्र आया है, जिससे हे प्रभो! माता पिता को मिलने की इच्छा वाले मुझे स्वदेश जाने की आप आज्ञा दें।' ऐसा सुन कर राजा ने कहा कि—'हे सार्थवाह! तू बड़ा दातार, विनयवान्, न्यायवान् दूसरे के मन को जानने वाला, परमप्रीतिपात्र और मेरा मित्र है; अब तू माता पिता को मिलने के लिये उत्कण्ठित होकर स्वदेश जाता है तो तेरी इच्छानुकूल कुछ भी माँग ले, वह देने के लिये मैं किसी प्रकार संकोच नहीं करूंगा।' सार्थवाह बोला—'हे प्रभो! आपकी कृपा से मुझे कुछ भी कमी नहीं है, तो भी हे सेवकवत्सल! यदि आप मेरे पर सन्तुष्ट हुए हैं तो समुद्रतट तक आप स्वयं मुझे पहुँचाने के लिये आवें, जिससे देश विदेश में मेरी प्रसिद्धि हो।' 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर उसकी माँग स्वीकार करके राजा ने सार्थवाह को कहा—'हे मित्र! आप के चलने का समय मुझे सूचित करना।' इस प्रकार राजा के कथन से सार्थवाह का मन सन्तुष्ट हुआ और वह तलघर में जाकर सब पातालसुन्दरी को मालूम किया।

पीछे पातालसुन्दरी की आज्ञा से सब जहाज़ों में अच्छे अच्छे किराने भर कर सार्थवाह पालकी में बैठ कर अपने आवास से बाहर निकला। सार्थवाह का प्रयाण जान कर राजा भी वहाँ आया, इतने में समय को जानने वाली पातालसुन्दरी भी वहाँ आई। इस समय राजमार्ग में चलते हुए राजा और सार्थवाह के पीछे पालकी में बैठकर पातालसुन्दरी चलती थी। मौक़ा देखकर रास्ते में पाताल सुन्दरी ने राजा को कहा—'हे स्वामिन्! मेरे पति ने यहाँ जो कोई भी आपका अपराध किया हो, उसको आज क्षमा करें और किसी समय उनको याद भी करें।' इस प्रकार सुनते ही उसको देखकर राजा विचारने लगा—'अहो! अवश्य! यही मेरी प्रिया इसके साथ जा रही है। अहा! मैंने व्यर्थ झूठा विचार किया, कारण कि यह उसके समान आकृतिवाली इसकी ही स्त्री है, ऐसा पहले परोसने के समय मैंने उसकी जाँच करली है; तो भी एक बार वहाँ तलघर में जाकर उसको प्रत्यक्ष देखूं, परन्तु इस समय आधे रास्ते से वापिस लौटूं तो लोगों में लज्जित होना पड़ेगा। अब तो सार्थवाह को समुद्र के किनारे पर पहुँचा कर तुरन्त ही पीछे आ करके मन की शान्ति के लिये उस प्रिया को देखूंगा।'

अब समुद्र किनारे आकर और राजा की आज्ञा लेकर पातालसुन्दरी के साथ सार्थवाह शीघ्र ही जहाज़ पर

बैठा और उसने अब 'आप सब खुशी से घर पधारें' ऐसा राजा आदि को कहा। पीछे शीघ्र ही उस रास्ते से दूसरे रास्ते जहाज़ों को बहुत वेग से चलाने लगे। राजा ने भी तुरन्त ही वापिस आकर तलघर को देखा, तो पाताल सुन्दरी के चली जाने से उसको शून्य देखने में आया। 'हा! उस धूर्त्त ने मुझे ठगा।' इस प्रकार शोकाग्र चित्त से अपनी पत्नी का सारा वृत्तान्त मन्त्री आदि को आद्यंत कहा—'इस तलघर में से वह बनिया उसको किस प्रकार हरण कर ले गया?' ऐसे आश्चर्य पाकर वे सब राजा के साथ तलघर में गये। वहाँ सूक्ष्म दृष्टि से तलाश करने से बन्द मुखवाली एक सुरंग उन्होंने देखी और उसी रास्ते से वे सार्थवाह के घर में गये। वहाँ उस घर को भी शून्य देखकर, क्रोप से लाल नेत्र करके राजा ने अपने योद्धाओं को आज्ञा की—'उस दुरात्मा को बाँधकर यहाँ ले आओ।' पीछे 'अहो! इस परदेशी बनिये की कैसी अद्भुत कला थी! हम लोग भी जिसको जानते नहीं थे ऐसी राजा की राणी का वह हरण कर गया।' इस प्रकार हृदय में आश्चर्य पाते हुए मन्त्री, सामन्त और सुभटों के साथ राजा स्वयं अत्यन्त क्रोधित होकर सार्थवाह के पीछे दौड़ा। तुरन्त ही समुद्र किनारे आये, परन्तु उस स्थान को शून्य देखा, जिससे पत्नी के प्रेम में बंधे हुए राजा ने नाविकों को इस

प्रकार हुक्म दिया कि—'अरे! जहाज़ों को तैयार करके तुरन्त ही समुद्र में चलो।' वे कहने लगे—'इस समय समुद्र में मुसाफरी कर सके, ऐसे जहाज़ हमारे पास तैयार नहीं हैं। कारण कि प्रयाण करते समय सार्थवाह ने सब बड़े बड़े जहाज़ ले लिये थे।' पीछे श्यामवदन होकर और हृदय में दुःखी होकर राजा विचारने लगा—'अहो! रुप में रति से भी अधिक ऐसी मेरी जीवितेश्वरी का हरण करके उस पापी धूर्त्त ने मेरा कुछ भी न छोड़ा। दूसरे पुरुष को जिसने देखा भी न था ऐसी और पति के विनयोपचार को जानने वाली ऐसी हे प्राणप्रिये! तू इस कामनगारे बनिये के साथ क्यों चली गई? निष्पुण्य मनुष्यों की लक्ष्मी जैसे पाताल में से बाहर निकल करके चली जाती है, वैसे हे कान्ते! मेरे पापों से प्रेरित होकर त भी पाताल में से निकल कर चली गई। हे विनय को बताने वाली! हे चंद्रमुखी! हे प्रिय बोलने वाली! हे देवि! विधाता ने तेरा वियोग कराया। अहा! अब तू मेरे देखने में कहां आवेगी?' इस प्रकार विलाप करते हुए राजा को मंत्री वर्ग कहने लगा—'हे स्वामिन्! गये हुए का, मरे हुए का और नाश हुए का उत्तम पुरुष शोक नहीं करते। हे प्रभो! पवन से प्रेरित हुए पत्ते के समूह की तरह कर्मयोग से जीवों का संयोग और वियोग हुआ

करता है। फिर स्त्री तो द्रव्य से खरीद सके ऐसी वस्तु है, तो उसके लिये विलाप करने से सज्जनों में हमेशा के लिये आप हास्यपात्र होंगे।

भगवन्त ने यहाँ तक बात कही इतने में शुद्ध आशय वाले कुमारों ने हास्य, विस्मय और उल्लास पूर्वक तात को नमस्कार करके विनति की—'हे तात! सुन्दरी के प्रत्यक्ष दोषों को देखने पर भी कुशल राजा ने उन को गुण समझ लिये उसका क्या कारण?' ऐसा प्रश्न सुन कर समस्त प्राणियों के पर उपकार करने में उत्सुक मन वाले और संशय रूप अन्धकार को नाश करने वाले प्रभु कहने लगे—'विवेक रूप दृष्टि को आच्छादित करने वाला और लोक में दुर्यश को फैलाने वाला ऐसा सघन राग ही वहाँ कारण भूत समझना। कहा है कि—

रत्ता पिच्छंति गुणा दोसे पिच्छंति जे विरज्जंति।
मज्झत्था विय पुरिसा गुणे य दोसे य पिच्छंति॥

जो पुरुष जिस वस्तु में रक्त (रागी) होता है वह उसी में सब गुण ही देखता है और जिसमें जो विरक्त होता है, वहाँ सब दोष ही देखता है। मध्यस्थ पुरुष तो गुण और दोष दोनों को देख सकते हैं।' कितनेक लोग तो स्त्री को यहाँ तक भी मानते हैं—

'सा मित्रं सचिवः सैव, सा तत्त्वं जीवितं च सा ।
सा सर्वस्वामिनी सैव, सैव देवो गुरुश्च सा ॥
दिवारात्रौ च सर्वत्र, सा सैवं स्त्रीवशात्मनाम् ।
महतामपि हा चित्तं, विचाराद् भ्रश्यति ध्रुवम् ॥'

'वह स्त्री ही मित्र, मंत्री, तत्त्व, जीवन, सबकी स्वामिनी देव, गुरु, दिन और रात्रि में सर्वत्र वही स्त्री, इस प्रकार स्त्री के वश हुए बड़े मनुष्यों का चित्त भी विचार से भ्रष्ट हो जाते हैं।' रागान्ध मन वाले मूढ़ पुरुष धनधान्य से युक्त अपना सारा घर स्त्री को सौंप कर स्वयं उस के आगे दास जैसा आचरण करते हैं, यह बड़े खेद की बात है। स्त्री के आधीन हुए रागान्ध पुरुष यदि बुद्धिमंत हों तो भी शुभाशुभ का विचार करने में वे असमर्थ हो जाते हैं। इस विषय में बहुधान्य का दृष्टान्त इस प्रकार है—

'रेवानदी के दक्षिण किनार पर सीमान्त नाम के नगर में बहुत द्रव्य वाला बहुधान्य नाम का एक गाँव का मुखिया रहता था। उसको सरल स्वभाव वाली पति-व्रता और भक्ति वाली सुन्दरी नाम की प्रथम स्त्री थी और दूसरी कुटिल स्वभाव वाली और कुलटा कुरंगी नाम की स्त्री थी। इन दोनों स्त्रियों में से प्रथम सुन्दरी

को आठ बैल, दो गौ, दो नौकर, दो दासी, दो खेती करने वाले और सब सामग्रीवाला घर देकर उसने अलग रखी थी और स्वयं कुरंगी पर मोहित होकर उसके साथ मनोवांछित भोग भोगता था। मदिरा पीने वाले की तरह मदिरा से गये हुए समय की भी उस को खबर नहीं पड़ती थी। इस नवयौवना को प्राप्त कर इन्द्राणी से आलिंगित इन्द्र को भी वह अपने से अधिक नहीं मानता था।

एक दिन राजा ने बहुधान्य को बुलवा कर कहा—समस्त सामग्री तैयार करके लश्कर की छावनी में तुरन्त ही आ जाओ। तब वह भी नमस्कार करके 'मैं आता हूँ' ऐसा कह कर घर आया। वहां कुरंगी को दृढ़ आलिंगन करके स्नेह पूर्वक कहने लगा—'हे कान्ते! आज तुझे घर पर अकेली छोड़ कर मुझे छावनी में जाना पड़ेगा, यदि मैं न जाऊं तो प्रचण्ड शासन वाला राजा मेरे पर कोपायमान हो जाय।' ऐसा सुनकर वह तन्वी (कुरंगी) मन में दुःखित होकर कहने लगी—'हे जीवनेश्वर! मैं भी आपके साथ चलूंगी, कारण कि ज्वालायुक्त अग्नि तो सुख पूर्वक सहन हो सकती है, किन्तु हे नाथ निरंतर शरीर को दुःखी करने वाला आपका वियोग सहन न हो सकेगा।' इस प्रकार सुनकर बहुधान्य ने कहा कि—'हे मृगाक्षी! ये सब सत्य हैं, परन्तु तू यहां ही रहे, मेरे

साथ आने का विचार न कर, कारण कि परस्त्री-लंपट राजा कभी तुझे देखे तो तुझे स्वाधीन किये बिना न रहे। ऐसे स्त्रीरत्न को देखकर शक्तिमान पुरुष उसका अनादर क्यों करें ?।' इस प्रकार कुरंगी के मन का समाधान करके उसको धन धान्यादि से भरे हुए घर को सौंप कर वह तुरन्त छावनी में चला गया।

अब पति के जाने बाद कुरंगी अपने जार-पुरुषों के साथ अनेक प्रकार के भोगों को भोगती हुई स्वच्छंद होकर निःशंक पूर्वक जहां तहां घूमने लगी। अनेक प्रकार के वस्त्र और भोजनादि से जार-पुरुषों का सत्कार करती हुई उसने कुछ समय में धन धान्यादि से घर को खाली कर दिया। पीछे छावनी में से अपने पति को नज़दीक आया हुआ सुन कर जार-पुरुषों से सर्वस्व लुटाई हुई वह भय से घबराने लगी, और सती के योग्य वेश पहर कर लज्जा पूर्वक वह अपने घर में आ गई, कारण कि ठगाई करना यह स्त्री का स्वाभाविक गुण है। कामदेव की आज्ञा में वश होकर बहुधान्य ने भी नज़दीक आकर तुरंत एक मनुष्य को पहले से कुरंगी के घर भेजा। वह आकर कुरंगी को कहने लगा—'हे शुभे ! तेरा पति आ रहा है, जिससे उसके लिये अच्छा भोजन तैयार कर, कारण कि वह आज यहां ही जीमेगा। तेरे प्रेम के वश

होकर उसने तुझे समाचार कहने के लिये मुझे आगे भेजा है।' ऐसा सुनकर कपटी कुरंगी ने उसको कहा कि 'हे भद्र! यह समाचार उसकी बड़ी स्त्री को कहे, कि जिससे वह आज उसके घर भोजन करे। कारण कि मर्यादा का उल्लंघन करना योग्य नहीं।' पीछे कुरंगी भी उसके साथ आकर सुन्दरी को कहने लगी—'हे बहिन! तू आज अच्छे २ भोजन तैयार कर, कारण कि स्वामी आज तेरे घर जीमेगा।' ऐसा सुनकर सुन्दरी ने कहा—बहिन! मैं तो अनेक प्रकार की रसवती तैयार करूंगी, परन्तु स्वामी मेरे घर नहीं जीमेगा। यह सुनकर कुरङ्गी कुछ हँस कर कहने लगी—'यदि मुझे वह प्रिय मानता होगा तो मैं कहती हूँ कि वह अवश्य यहाँ ही भोजन करेगा।' ऐसा कुरङ्गी के वचनों से सरल आशयवाली सुन्दरी ने षड्रस से सुन्दर भोजन तैयार किया।

अब बहुधान्य उत्कण्ठित होकर कुरङ्गी के घर आया और यह घर धनधान्यादि से खाली पड़ा था तो भी उसने तो सम्पूर्ण ही मान लिया। वह उसके घर के द्वार आगे जरावार खड़ा रहा, पीछे चौकी पर बैठ कर बोला—'हे प्रिये! भोजन दे! शीघ्र ही कर!' यह सुनकर वह भृकुटी चढ़ाकर बोली—'हे दुष्टमति! जिसको तूने पहले कहलाया है, उस तेरी मा के घर जा, वहाँ जाकर भोजन कर।'

यह समाचार स्वयं कुरङ्गी ने सुन्दरी को कहलाया था, वो भी वह पति पर इस प्रकार व्यर्थ कुपित हुई। अहो! स्त्रियें पति को वश करके अपने दोषों को उनके ऊपर चढ़ाती हैं। इस प्रकार कुरङ्गी जब कोपायमान हुई तब जैसे बिल्ली के आगे उन्दर चुप हो जाता है वैसे अपना शरीर संकोचित करके भय और कम्प पूर्वक बैठ रहा। इतने में 'हे तात! भोजन करने चलो' इस प्रकार सुन्दरी के पुत्र ने आकर आदर पूर्वक कहा, तो भी वह मूढ़ क्षणवार तो गूंगे की तरह बैठ ही रहा; तब कुरंगी आवेश से बोली—'अरे! यह क्या पाखण्ड रचा है? प्रिया के घर जाकर भोजन कर।' इससे वह डरता २ सुन्दरी के घर गया। उसको आते ही सुन्दरी ने बैठने के लिये तुरन्त अच्छा आसन दिया और भोजन के लिये उसके आगे सुवर्ण का थाल रखा। पीछे अच्छे स्वादिष्ट अनेक प्रकार की भोज्यवस्तु उसको परोसी, परन्तु वह रागान्ध होने से शून्य मनवाले की तरह उसने कुछ भी न खाया और कामान्ध होकर इस प्रकार मन में विचारने लगा—'यह मेरी प्राणप्रिया कुरङ्गी इस समय मेरे पर क्यों कोपायमान हुई है? जब तक कुरङ्गी स्नेह नज़र से मुझे न देखेगी, तब तक स्थल पर जलचर की तरह मुझे कहीं भी आनन्द न होगा। अप्सरा को भी जीत ले ऐसी सौभाग्यवाली और सर्वत्र

विनयोचित करने वाली उस जीवनेश्वरी को मैं किस प्रकार मनाऊँ ?' इस प्रकार विचारता हुआ वह वकरे की तरह ऊँचा मस्तक करके बैठ रहा, तब सुन्दरी उसको कहने लगी—'हे स्वामिन् ! जीमते क्यों नहीं ?' वह कहने लगा—'अरे ! क्या जीमूं ? जीमने के उचित कुछ भी नहीं है; इसलिये मेरी प्रिया कुरङ्गी के घर से कुछ खाने का ले आव ।' ऐसा भर्त्तार का वचन सुनकर सरल आशयवाली सुन्दरी तुरन्त कुरङ्गी के घर जाकर उसको कहने लगी—'हे सुभे ! तेरे पति के भोजन के लिये कुछ खाने का दे ।' तब कुरङ्गी ने कहा—'वहन ! आज कुछ भी मैंने नहीं पकाया ।' परन्तु 'मैं उसको गोवर देऊँगी तो भी उसको यह प्रिय लगेगा, कारण कि वह मेरे पर अति आसक्त मनवाला है, जिससे मेरा सब दूषण सहन कर लेगा ।' इस प्रकार विचार करके ताजा, कुछ गरम, जिसमें गेहूँ के कितनेक दाने फूले हुए हैं ऐसा, घृणा करने योग्य और बहुत नरम ऐसा गोवर वह ले आई और एक पात्र में डाल कर तुरंत सुन्दरी को देकर बोली—'यह ले भर्त्तार का जीमन ।' सुन्दरी वह लेकर शीघ्र ही अपने पति को दिया । तब वह मूर्ख शिरोमणि 'यह कुरङ्गी का भेजा हुआ है इसलिये अच्छा अमृत जैसा होगा' ऐसा समझ कर वह सब खा गया । उस पुरुष ने रागी होकर गोवर खाया

इसमें आश्चर्य क्या है ? अरे ! रागी पुरुष तो स्त्री के जघन और मुख में रही हुई अशुचि आदि को भी खा जाता है।

पीछे वह गोबर ही खाकर अपनी शाला में गया, वहाँ आदर पूर्वक उसने एक ब्राह्मण को कुरंगी के कोप का कारण पूछा। वह ब्राह्मण पहले से ही कुरंगी के चरित्र को जानता था, जिससे वह कहने लगा—'हे भद्र ! कुरंगी तेरे घर में साक्षात् तेरी शत्रु है कि जिसने जार-पुरुषों के साथ मिलकर अपना शील, कुल, यश और तेरे घर का धन इन सब को एक साथ नाश कर दिया। जिस स्वच्छन्दाचारिणी पापिनी ने इस प्रकार तेरा धन उड़ा दिया है, वह कभी तेरे प्राण को भी हरण करे तो उसको कोई रोक नहीं सकता।' इस प्रकार परिणाम में हितकारक ब्राह्मण के वचन को सुनकर उस कुबुद्धि ने कुरंगी के पास जाकर सब कह दिया। जिससे वह कहने लगी—'हे स्वामिन् ! वह मूर्ख ब्राह्मण एक दिन शेषनाग के माथे पर रहे हुए मणि की तरह मेरा शील हरण करने में तैयार हुआ था, उस समय मैंने उसका तिरस्कार किया था, जिससे वह खेद पाकर मेरे दोषों को आपके आगे कहता है। जिससे वह अब अपने घर के योग्य नहीं है। हे स्वामिन् ! उसको तुरंत ही निकाल दो।' इस प्रकार

असत्य वचनों को सत्य मानने वाले उस कुबुद्धि रागांध ने परिणाम में हितकर ब्राह्मण को तुरंत ही नौकरी से दूर कर दिया। पीछे कुटिल और कुलटा के आचार वाली कुरंगी इस दुर्मति वहुधान्य को परम प्रीतिपात्र हो गई। 'राग की ऐसी चेष्टा को धिक्कार है!'

'हे वत्सो! इस प्रकार राग का माहात्म्य तुम्हारे आगे मैंने कहा। अब प्रस्तुतः (चालू) वात को कहता हूँ।

पातालसुन्दरी के जाने वाद राजा विचार करता है कि—'अरे! मैं अव क्या करूं? कहाँ जाऊँ? और उस प्रिया को किस प्रकार प्राप्त करूं?' इस प्रकार चिन्ता कर रहा था, इतने में देव-दुंदुभि की मधुर आवाज़ उसके सुनने में आई। 'यह मधुर शब्द कहाँ होता है?' इसका विचार करके और मन में आश्चर्य पाकर के राजा सामंत और मंत्री के साथ शब्द के अनुसार नगर के वाहर गये। वहाँ तत्काल केवलज्ञान उत्पन्न होने से देव गण जिनका महोत्सव कर रहे हैं और जो सुवर्ण कमल पर वैठे हुए हैं ऐसे मुनि को देखा। वहाँ मुनि को नमस्कार करके राजा ने पूछा—'हे स्वामिन्! हँसमुखी, रूप में रंभा जैसी और पतिवृता पातालसुन्दरी मुझे कव मिलेगी?' इस प्रकार राग से व्याकुल हुए राजा के वचनों को सुन कर उसको प्रतिवोधने के लिये मुनि वोले—'हे राजन्!

वह सुन्दरी इस जन्म में तुझे मिलने वाली नहीं, परन्तु जन्मान्तर में भी नहीं मिलेगी।' 'हा! तब तो मेरी जीवनेश्वरी अवश्य चली ही गई!' इस प्रकार खेद पाते हुए राजा को फिर केवली मुनि ने कहा—'हे राजन्! प्रत्यक्ष राक्षसी जैसी वह चली गई, जिससे तू शोक क्यों करता है? यह तो अपने आप सींग से सांकल उतरने जैसा हुआ। हे राजन्! तुझे याद है? एक समय विषयुक्त बीजोरा तुझे खाने को उसने दिया था, जिससे तू व्याकुल हो गया था, परन्तु तू चरमशरीरवाला होने से मर न गया। पीछे दूसरी वार परोसने के समय तुझे ठगा था और तुझे प्रत्यक्ष बतला कर चली गई, जिससे तू लोक में हाँस्यपात्र हुआ। इत्यादि इसके प्रत्यक्ष दुष्कृत्यों को देख कर भी हे राजन्! अभी भी उस पर आसक्त होकर क्यों घबराता है? कुछ समझता क्यों नहीं? साक्षात् कालरात्रि के समान वह जिसके घर जायगी, उसको भी वह अत्यन्त कष्ट देने वाली होगी। नैमित्तिकों की उसके जन्म के समय कही हुई सब बात यथार्थ होंगी, जिससे उसके विश्वास के लिये अब इसके बाद उसके वृत्तान्त को सुन—

पातालसुन्दरी छः मास तक अनेक प्रकार के द्वीपों में अनंगदेव के साथ स्नेह पूर्वक क्रीड़ा करेगी। उसके बाद गीतशास्त्र में कुशल और मधुर स्वर वाले उस

सार्थवाह का सुकंठ नाम का एक काणा मित्र है, उसके साथ निरन्तर देवर सम्बन्धी मश्करी करती हुई वह किसी २ समय कामविकार के वचनों को बोलेगी और पीछे अवसर देखकर स्वच्छन्द प्रकृतिवाली वह आहिस्ते २ आगे बढ़कर एकान्त में उस सुकंठ के साथ कामक्रीड़ा भी करेगी। पीछे "यह सार्थवाह जब तक जीवित रहेगा, तब तक सुकंठ के साथ इच्छानुकूल भोगविलास कभी नहीं भोग सकेगी, इसलिये इसको किसी प्रकार मार डालूं।" इस प्रकार कृतघ्न स्वभाववाली और उपकारी सार्थवाह का भी अनिष्ट चाहने वाली अपने मन में विचार करेगी। पीछे एक दिन रात्रि के समय शरीर चिन्ता के लिये जहाज़ के प्रान्त भाग में गए हुए उस विश्वासु सार्थवाह को आहिस्ते से वह समुद्र में डाल देगी। उसके बाद जहाज़ जब दूर जायगा तब कपट से पुकार करेगी और श्याममुख करके नाविकों को इस प्रकार कहेगी कि— शरीर चिन्ता के लिये गये हुए मुझ भाग्य हीन के पति पैर सरक जाने से अभी ही अकस्मात् समुद्र में गिर गये। इसलिये जहाजों को रोक कर शीघ्र ही मेरे पति की तलाश करो। उसको जो मनुष्य समुद्र में से बचावेगा उसको मैं मनोवांछित देऊँगी।' इस प्रकार उसके वचनों को सुनकर नाविक लोग उत्साह पूर्वक उसको देखनें

लगेंगे, परन्तु वह दूर पड़े हुए होने से अमूल्य रत्न की तरह उसको नहीं खोज सकेंगे। उस समय "हा! जीवितेश्वर!, हा! नाथ!, हा! हृदय वल्लभ!, हा! आशा के विश्राम!, हा! रूप मन्मथ!, अब कब दर्शन होगा? हे प्रिय! मेरे तेरा ही शरण था तो अकस्मात् मुझे क्यों छोड़ दी?" इस प्रकार कपट पूर्वक विलाप करेगी। पीछे प्रीतिपात्र मेरे प्राणनाथ जब तक बहुत दूर न चले जायँ, तब तक उसके पिछाड़ी समुद्र में गिर कर मैं उसकी सहचारिणी होऊँ। ऐसा कह कर समुद्र में गिरने की झूठी तैयारी करेगी और जितने में वह गिरने जायगी, उतने में नाविक लोक उसको कहेंगे कि—'हे देवी! अकस्मात् आप हमको अनाथ क्यों करते हैं? दैवयोग से सार्थवाह कभी मर गये तो आप अब स्वामिनी हो।' ऐसे सार्थवाह के लोगों के कहने से वह भी 'इष्ट था और वैद्य ने कहा' इस प्रकार मन में समझती हुई, हर्ष से मौनपूर्वक स्वीकार करेगी। पीछे सबने मिल कर स्वामिनी की हुई वह जहाजों को आगे चलावेगी और अनेक द्वीपों में घूमेगी। दान और मान आदि से सार्थवाह के लोगों को वह प्रसन्न करेगी और निःशंक होकर सुकंठ के साथ स्वेच्छा पूर्वक विलास करेगी। पीछे चेष्टा से सुकंठ समझेगा कि—'अवश्य! इस पापिनी ने ही सार्थवाह को

समुद्र में फेंक दिया मालूम होता है। युवान, धनिक, रूप, सौभाग्य और औदार्य गुणों से, शोभायमान, तथा अत्यन्त अनुरक्त मन वाले राजा और सार्थवाह ने अच्छे अच्छे अलंकार आदि से बहुत बार सत्कार करने पर भी दुर्जन स्वभाववाली और कृतघ्न इस पापिनी ने जब उन्हों को भी छोड़ दिया, उन्हों की भी न हुई तो मेरे जैसे साधारण रूप वाले और निर्धन की तो यह कभी होने की ही नहीं। कान में डाली हुई सलाई के जैसे स्वीकार करते या त्याग करते दोनों समय यह पापिनी कुछ समय में ही मुझे भी महा अनर्थकारी होगी।' इस प्रकार दोष समझ लेने से सुकंठ भी उससे हृदय से विरक्त हो बाह्यभाव से मिष्ट बोलता हुआ उसके साथ विलास करेगा।

यहाँ समुद्र में पड़े हुए सार्थवाह को पुण्योदय से एक पटिया मिलेगा, इससे तैरते २ कितनेक दिन पीछे सिंहलद्वीप में निकलेगा। वहाँ मिष्ट जल से और बहुत पके हुए फलों से स्वस्थ शरीर वाला हो कर वह इस प्रकार मन में विचार करेगा कि—'अहो! मैं एकान्त अनुरक्त, दाता, भोगी और लक्ष्मी का भण्डार होने पर भी उस दुष्टा ने मुझे कैसी दुरवस्था में पहुँचाया? वह प्रीति, वे मीठे वचन, वह उचित सत्कार ये सब इस पापिनी ने अहा! एक साथ नष्ट किया। जिसका स्वीकार करते

समय मैंने अपने कुल और शील की मलिनता की तथा लोकनिंदा की भी परवाह न की, ऐसा यह चरित्र! जो पुरुष अमावस्या की रात्रि में समस्त ताराओं की संख्या कर सके, वह पुरुष भी स्त्रियों के दोषों का प्रमाण अच्छी तरह नहीं कर सकता। अनेक प्रकार के स्थानों में रहे हुए दोषों को परस्पर नहीं देखने वाले मनुष्यों के ऊपर दया लाकर विधाता ने स्त्री के बहाने से उस को ही एक गोष्ठी स्थान (वार्त्ता स्थान) बनाया मालूम होता है। तो मोक्ष में भी स्त्रियों की स्थिति हो तो अच्छा, इस प्रकार जो चाहते हैं, वे पुरुष आँख से देखते हुए भी जात्यन्ध हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। हे आत्मा! दूसरे के दोष देखने से क्या? तू स्वयम् निर्दोष हो जा। कारण कि जूते पहने हुए मनुष्य को समस्त पृथ्वी चमड़े से जड़ित ही मालूम होती है। मित्रद्रोही, कृतघ्नता, चोरी, विश्वास-घात और परस्त्रीगमन, इन पाँच महा पापों को मैंने किया है, जिससे ही उसके इस प्रकार के दुःखरूप फल को मैंने तुरन्त पाया। कहा है कि 'अति उग्र पुण्य और पाप का फल यहाँ ही प्राप्त होता है।' राजा का द्रोह करने वाले मेरा उसने द्रोह किया वह अच्छा ही हुआ है। कारण कि जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा फल प्राप्त करता है।" इस प्रकार विचार करता हुआ और शुद्ध

धर्मबुद्धि वाला वह भोगों से विरक्त होकर के चारण मुनि के पास वहीं दीक्षा स्वीकार करेगा। पीछे तीव्र तप करते हुए नाशिका के अग्रभाग पर दृष्टि रख करके शुभ आशय से वह वहीं कायोत्सर्ग में स्थित रहेगा।

कितनेक दिन बाद पातालसुन्दरी के जहाज़ दैवयोग से उसी किनारे पर आ पहुँचेंगे। वहाँ जहाज़ में बैठने वाले लोग लकड़ी पानी लेने के लिये नीचे उतरेंगे, उसी समय स्वेच्छापूर्वक विलाससुख भोगने की इच्छावाली पातालसुन्दरी सुकण्ठ के साथ स्नेह पूर्वक खेलती हुई अनेक प्रकार के वृक्षों की श्रेष्ठ छाया वाले कुसुमाकर नामक उद्यान में आवेगी। वहाँ कौतुक पूर्वक वन की शोभा देखते २ कायोत्सर्ग से रहे हुए अनंगदेवर्षि सुकण्ठ के देखने में आवेगा। उस समय अपने स्वामी और मित्र को देख कर सरल आशयवाला सुकण्ठ मन में हर्षित होगा और मुनि के चरणों में मस्तक रख कर उसको वन्दना करेगा। मुनि भी अपने मित्र को देख कर हर्षित होंगे और तुरन्त कायोत्सर्ग पार कर उसको बोलावेंगे। उस समय पातालसुन्दरी वृक्ष के अन्तराल रहकर उसको देखेगी और विचार करेगी—'अहो! इसको समुद्र में फेंक दिया था तो भी यह अभी तक जीवित है। अब यह वैरी सुकण्ठ उसके पास से मेरा दुष्कृत जान

कर, जब तक नाविक लोगों के आगे मेरा कर्म प्रकाशित न करे, तब तक इस दुष्ट को यहाँ ही छोड़कर मैं मेरा स्वार्थ साध लूं। कारण कि पानी आये पहले बंधा हुआ पुल ही प्रशंसनीय है।' पीछे वह शीघ्र ही समुद्र के किनारे पर जाकर बोलने लगी—'अरे! लोगों जहाज़ में बैठ शीघ्र ही भागो, कारण कि यम के जैसा भयंकर राक्षस मेरे पीछे आ रहा है, वह पापी सुकण्ठ को तो एक ग्रास में ही खा गया और मैं बड़े कष्ट से पुण्योदय से यहाँ जीवित आ गई हूँ।" इस प्रकार अकस्मात् भय उत्पन्न करके उत्साह पूर्वक लोगों के साथ जहाज़ में बैठ कर जहाज़ को चलावेगी। पीछे दूसरे द्वीप जा कर कोई बड़े नगर में जहाज़ आदि सब बाह्य वस्तुओं को बेच डालेगी। और वहाँ नटविट लोगों के साथ स्वेच्छा पूर्वक अनेक प्रकार के भोग भोगती हुई पातालसुन्दरी वेश्यापन को पायँगी। पीछे अभक्ष्य के भक्षण से और नहीं पीने योग्य के पीने से बहुत पाप उपार्जन करेगी, पीछे वहाँ से मर कर नारकी में जायगी और वहाँ महादुःखों को भोगेगी।

अब यहाँ अनंगदेव मुनि के मुख से पातालसुन्दरी के दोषों को जान कर सुकण्ठ भोगों से विरक्त होगा और वहीं चारित्र लेगा। पीछे वे दोनों मुनि निरतिचार चारित्र पाल

कर स्वर्ग में जाँयगे और वहाँ से एक भव कर के मोक्ष में जाँयगे।

हे राजन्! द्रोह करने वाली और स्वच्छन्दचारिणी यह अपने आप चली गई तो भी तू उसको प्राप्त करने के लिये इच्छता है, ऐसी तेरी मूढ़ता को धिक्कार है। तूने इसका चरित्र सुना इसी प्रकार प्रायः सब स्त्रियों का चरित्र समझ लेना। कारण कि चावल का एक दाना देखने से सारी हाँडी की परीक्षा हो जाती है। इस प्रकार सब स्त्रियें दोष की उद्घोषणा रूप है, इसलिये हे राजन्! स्त्रियों के मोह को सर्वथा छोड़ कर शीघ्र ही आत्महित साधन के लिये तत्पर हो।' इस प्रकार सर्वज्ञ के सुधा समान उपदेश से राजा के मोह रूप विष का आवेग तुरन्त ही शान्त होगया। जिससे उक्त प्रकार के स्त्रीचरित्र को जानकर और विषयों से विरक्त होकर राजा ने उन केवली भगवान् के पास तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण की। पीछे बढ़ते हुए वैराग्य के रंग वाले और निसंग हृदय वाले उस मुनि को शुभध्यान से सातवें दिन केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। सर्वज्ञ हुए राजर्षि ने बहुत वर्ष तक भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर और सब कर्मों का क्षय करके सिद्धिपद पाया।

हे वत्सो! इस प्रकार स्त्रियों की चपलता को समझ कर उनके आधीन रहे हुए कामभोगों से विरक्त हो। देव

और मनुष्यों के मनोवांछित सुखों को अनेक वार भोगे हैं तो भी यह जीव लेशमात्र भी सन्तुष्ट नहीं होता। जैसे स्वप्न के अनुभूत विषय भी इस समय स्मृतिमात्र हैं, वैसे पहले भोगे हुए विषय भी आगे स्मृतिमात्र ही रहते हैं। मनुष्य और देवों के भवों में अनंती वार विषयभोग भोगे हैं, तो भी वहुत खेद की वात है कि प्राणी मोह के वश से ये विषय जव मिलते हैं तव अपूर्व (पहले नहीं प्राप्त किये) ही मानते हैं। कहा है कि—

पत्ता य कामभोगा कालमणंतं इह स उवभोगा।
अपुव्वंपिव मन्नइ तहवि अ जीवो मणे सुक्खं॥

'उपभोगों के साथ अनन्तकाल तक कामभोग प्राप्त हुए तो भी यह जीव मन में तो इन सुखों को अपूर्व ही मानता है। हे वत्सो! जैसे अंगारदाहक पानी से सन्तुष्ट न हुआ, वैसे जीव को अनन्तकाल से कामभोग मिलने पर भी उससे तृप्त नहीं होता, उस अंगारदाहक का दृष्टान्त इस प्रकार है—

"कोई अङ्गारदाहक ग्रीष्मऋतु में पानी के घड़े को साथ में लेकर अंगारा (कोयला) वनाने के लिये किसी निर्जल वन में गया। वहाँ इधर उधर घूम कर, वहुत सी लकड़ी काट कर, दोपहर के समय अलग २ ढेर करके

जलाने लगा। उस समय घूमने से, महनत से, गरम वायु से, अग्नि के पास रहने से, भयंकर ग्रीष्मऋतु के प्रभाव से, और दुःसह घाम से वह अत्यन्त तृषा से व्याकुल हो गया। जिससे वह घड़े में लाया हुआ पानी सब पी गया, तो भी उसे लेशमात्र भी शान्ति न मिली और तृषा भी शांत न हुई। पीछे भ्रमित दृष्टि से चारों ओर पानी को देखता हुआ वह सो गया और आर्त्तध्यान के वश से स्वप्न में अपने नगर गया। वहाँ तृपा (प्यास) से आकुल होकर अपने नगर के समस्त घरों का सब पानी पी गया, तो भी उसी प्रकार प्यासा ही रहा, जिससे समस्त बावड़ी, कुआँ और सरोवर के जल को भी पी गया, तो भी जैसे तेल से अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे इतने जल से भी उसकी प्यास शान्त न हुई, तब वह सब नदियों का और समुद्रों का जल भी पी गया, तो भी प्यासे रहकर पानी की खोज के लिये घूमता २ मारवाड़ में बहुत गहरा जल वाला एक कुआँ देखा, वहाँ कुआँ में से पानी निकालते समय आस पास उगे हुए घास में लगी हुई पानी की बूंदों को वह प्यास की शान्ति के लिये चाटने लगा।" हे वत्सो! इस दृष्टान्त का सारांश यह है कि—'बावड़ी, कुआँ, सरोवर, नदी और समुद्र के समस्त पानी को पीने पर भी उसकी प्यास शान्त न हुई तो घास के अग्र भाग से झरते हुए बूंदों से कैसे शान्त

होगी ? वैसे समुद्र सदृश स्वर्ग के भोगों से जो अतृप्त रहे तो घास के अग्र भाग से झरते हुए पानी के समान मनुष्य के भोगों से तुम किस प्रकार तृप्त हो सकोगे ?' पुनः प्रभु ने कुमारों को संसार की असारता-गर्भित सिद्धान्त का सार रूप उपदेश दिया—"हे भव्यो ! प्रतिबोध पाओ ! किस कारण प्रतिबोध नहीं पाते ? कारण कि व्यतीत हुई रात्रि की तरह फिर २ मनुष्यभव पाना सुलभ नहीं है। देखो, कितनेक प्राणी बाल्यावस्था में ही मर जाते हैं, कितनेक वृद्ध होकर मरते हैं और कितनेक गर्भ में रहे हुए ही च्यव जाते हैं। जैसे सींचाणा पक्षी तीतर को छल कर उसके प्राण का नाश करता है, वैसे ही काल मनुष्य के जीवन को नाश करता है। जो मनुष्य माता पिता आदि के मोह में मुग्ध हो जाते हैं, उनको परभव में सुगति सुलभ नहीं है। जिससे दुर्गति में जाने के भय को देख कर सदाचारी भव्य जीवों को सब प्रकार के आरम्भों से निवृत्त होना चाहिये। जो प्राणी आरम्भ से निवृत्त नहीं होते, वे अपने किये हुए कर्मों के उदय से नरकादि दुर्गति में भ्रमण करते हैं। कारण कि किये हुए कर्मों को बिना भोगे जीव मुक्त नहीं हो सकता। देव, गांधर्व, राक्षस, असुर, स्थलचर सर्पादिक एवं राजा, सामान्य मनुष्य, सेठ और ब्राह्मण, इन सबको दुःखित होकर अपने २ स्थान का त्याग करना पड़ता है। आयुष्य का क्षय होने पर

अपने २ कर्मों के साथ प्राणी असमय में ताड़ वृक्ष से टूट कर गिरते हुए फल की तरह मृत्यु पाकर काम भोगों से और स्वजन परिवार से जुदा पड़ता है। देवगति में अनुत्तर विमान तक के सुखों को भोगने पर भी तुमको तृप्ति न हुई, तो इस मनुष्य गति के तुच्छ सुखों से कैसे तृप्ति होगी? सर्प की जैसे भयंकर, समुद्र के चपल तरंगों की तरह क्षण-भंगुर और परिणाम में अनिष्ट, ऐसे विषयों को समझ कर इनमें आसक्त न हों। विषय रूप मांस में लुब्ध मन वाले प्राणी रागांध, पराधीन, स्थिति रहित, अपने हित से भ्रष्ट और हताश होकर नाश हो जाते हैं। वीणा और वंशी आदि वाद्यों के कान को सुखदायक शब्दों में आसक्त होकर मूढ़ मन वाले अनेक प्राणी मृग के जैसे मृत्यु पाते हैं। शृङ्गार के विचार से मनोहर और सुललित हाव भाव विलास से परिपूर्ण रूप में दृष्टि रखकर प्राणी पतंग की तरह नाश होते हैं। सरस आहार के अभिलाषी तथा मक्खन, मदिरा, मांस और मधु के भक्षण करने वाले प्राणी मांस के लोलुपी मछली की तरह मरते हैं। श्रेष्ठ फूलों के सुगन्ध में मोहित होने वाले प्राणी भ्रमर की तरह विनाश होते हैं, तो भी मूढ़ मन वाले जीव नहीं समझते। मृदु और मनोहर स्पर्श में आसक्त, दोष तथा गुणों को नहीं जानने वाले, सदा आलसी और रमणी के

राग से मोहित मन वाले मूढ़ प्राणी हाथी की तरह संसार के बंधन में बंध जाते हैं। इत्यादि अठानवे काव्यों से अठानवे पुत्रों को प्रतिबोध देकर प्रभु ने उनको वैराग्य-वासित किये। पीछे भगवान् की वाणी का विचार करते २ उन सबको जातिस्मरण ज्ञान हुआ। जिससे मानो कल ही भोगे हों वैसे पहले भोगे हुए देव गति के सुखों का उनको स्मरण हुआ। तब ये विचारने लगे— 'सर्वार्थसिद्ध विमान में जो अतुल सुख संपत्ति हैं, वे एकान्त और अत्यन्त मोक्ष सुख की वानगी जैसी हैं ये कहाँ! और नवद्वार से बहती हुई दुर्गन्ध से बीभत्स शरीर वाले मनुष्यों का अत्यन्त तुच्छ सुखाभास कहां!' इस प्रकार ज्ञान हो जाने से और पहले बहुत काल तक अनुत्तर विमान के सुखों को भोगे हुए होने से, इस भव के तुच्छ विषयों में उन्हों का मन लेश मात्र भी आसक्त न रहा। कहा है कि—

अविदितपरमानन्दो विषयसुखं मंयते हि रमणीयम्
तस्यैव तैलमिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥

'जिसको परमानन्द की खबर नहीं है, वही प्राणी विषयसुखों को रमणीय मानता है, जिसने घी कहीं भी

देखा या खाया नहीं है उसको ही तेल प्रिय लगता है।'
वे स्वर्ग में अहमिन्द्रपन से नित्य सुख भोगते हुए बहुत काल तक रहे थे, जिससे उन्हों के हृदय में भरत की आज्ञा के आधीन, ऐसा राज्यसुख किंचित् भी पसन्द न आया। कहा है कि—

क्रीडिता ये चिरं हंसा निर्मलाम्भसि मानसे।
तेषां रुचिर्न सेवाल-जटिले खातिकाम्भसि॥

'जिन हंसों ने निर्मल जल वाले मानसरोवर में बहुत काल तक क्रीड़ा की है, उनको सेवाल से व्याप्त खाई के पानी में कभी भी रुचि न होगी।' पीछे बढ़ते हुए शुभ भाव से वे अठानवे प्रभु के पुत्र हाथ जोड़कर, भगवान को नमस्कार करके इस प्रकार विनती करने लगे—'हे नाथ! इस संसार में जन्म, जरा, मरण और रोगों से प्राणी वहाँ तक ही दुःखित होता है कि जहाँ तक आपकी वाणी रूप शुद्ध रसायन का वह सेवन नहीं करता। हे तात्! चार गति के दुःखरूप आतप (घाम) आत्मा को वहाँ तक ही तपा सकता है कि जहाँ तक आपके चरणरूप वृक्ष की शीतल छाया को वह प्राप्त नहीं कर सकता। हे भगवन्! जहाँ तक भव्यजीव जंगम कल्पवृक्ष जैसे आपको प्राप्त नहीं करते, वहाँ तक ही वे

दुःखित होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं। हे स्वामिन्! आप तारने वाले होने पर भी जो भव्य जीव संसारसमुद्र को नहीं तिर सकते, उसमें महामोह का ही प्रबल माहात्म्य कारण भूत है। भरतक्षेत्र का सम्पूर्ण ऐश्वर्य अच्छी तरह भरतेश्वर भोगें, हम तो अब आत्महित करने वाली दीक्षा को ही स्वीकार करेंगे।' इस प्रकार विषयों से विरक्त होकर, अत्यन्त वैराग्य युक्त होकर और तृण की तरह राज्य का त्याग करके उन्होंने तुरन्त ही प्रभु के पास दीक्षा ली और दीक्षा लेने बाद थोड़े समय में ही क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने से घातिकर्मों का क्षय होगया और वे सब सर्वज्ञ हुए अर्थात् केवल ज्ञानी हुए।

❀ इति चतुर्थ उल्लास ❀

❋ पञ्चम उल्लास ❋

अनन्त सिद्धि वाले, समान दृष्टि वाले, सुवर्ण वर्ण वाले, जिनके समस्त अज्ञानरूप अन्धकार नाश हो गया है और जो सब प्रकार के विषादों (क्लेशों) से रहित हैं, ऐसे नवीन आदिनाथ प्रभु आपको सम्पत्ति के निमित्त भूत हों।

अब अपने अठानवे बन्धु भगवान् के पास गये हैं, ऐसा चरपुरुषों के मुख से जान कर और खेदित होकर भरत महाराजा इस प्रकार विचारने लगा—"ऐश्वर्य से उन्मत्त होकर मैंने अपने भाइयों को भी सामान्य मनुष्यों की तरह सेवा के लिये बुलवाया, जिससे वे सब खेदित होकर मेरे अनुचित व्यवहार की बात कहने के लिये अवश्य पिता के पास गये हैं। अहो! देव और असुरों की सभा में बैठे हुए तात भी उनके मुख से मेरा अनौचित्य सुन कर मन में कुछ खेद करेंगे और बड़े भाई ने राज्य के लोभ से छोटे भाइयों को उनके राज्य से बाहर निकाल दिया।' इस प्रकार पिता जी और दूसरे देवता भी मन में समझेंगे। आयुधशाला में चक्र का प्रवेश न होने के कारण मन्त्री

सामन्तों से प्रेरित होकर मैंने अवश्य ! यह खराब काम किया है। नीति शास्त्र में कहा है कि—

बालभावाल्लघिष्ठाश्चेन्न चलन्त्यग्रजाज्ञया ।
तथापि स शुभान्वेषी परूषं तर्जयेन्न तान् ॥

'छोटे भाई बालभाव से कदाचित् बड़े भाई की आज्ञानुसार न चलें, तो भी शुभ को चाहने वाला बड़ा भाई उसकी कठोरता पूर्वक तर्जना न करे।'

अतितर्जना न कार्या शिष्यसुहृद्भृत्यसुतकलत्रेषु ।
दध्यपि सुमथ्यमानं त्यजति स्नेहं न सन्देहः ॥

'शिष्य, मित्र, नौकर, पुत्र और स्त्री इन सबकी अति तर्जना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बहुत मथन करने से दही भी स्नेह (मक्खन) को त्याग देता है। अर्थात् अधिक तर्जना करने से स्नेह का लोप होता है इसमें सन्देह नहीं।' इसलिये अब तात के पास जा कर और उन्हों को समझा कर यहाँ ले आऊँ और अपना अपना राज्य पर उन्हों को वापिस स्थापित कर दूँ।

ऐसा विचार करके भरतेश्वर ने अष्टापद पर्वत पर जाकर ऋषभदेव स्वामी (तात) को नमस्कार किया और भाइयों के पास अपने अपराध की क्षमा माँगी। पीछे

कहने लगे कि—'हे बन्धुओ! राज्य में वापिस चल कर अनेक प्रकार के सुखों को भोगते हुए आपके बड़े भाई की लक्ष्मी को आप कृतार्थ करें।' इस प्रकार बड़े भाई भरत ने उन से कहा, किन्तु रागद्वेष रहित और निःसंग वे कुछ भी नहीं बोले। तब 'अवश्य! ये मेरे से नाराज़ हो गये हैं, जिससे मेरे साथ बोलते भी नहीं।' ऐसा मान कर दुःखाग्नि से जलते हुए भरत को प्रभु ने इस प्रकार वचनामृत से सिंचन किया—'हे राजन्! ये तेरे से नाराज़ हैं, ऐसी शंका लाकर तू खेद न कर, कारण कि ये महर्षि महात्मा रोष और तोष के वश नहीं हैं। कहा है कि—

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि।
मोक्षे भवे च सर्वत्र समचित्ता महर्षयः॥

'शत्रु और मित्र, तृण और स्त्री, सुवर्ण और पत्थर, मणि और माटी, मोक्ष और संसार, इन सब वस्तुओं में महात्मा समान चित्त वाले होते हैं अर्थात् समभाव वाले होते हैं।' इसलिये पाप रहित और समता रूप सुधा रस में जिनके मन मग्न हो गये हैं ऐसे महात्माओं को राज्य सम्पत्ति की या मनोहर विषयों की किंचित् मात्र भी तृष्णा नहीं है। इतना ही नहीं! किन्तु जो आहार भी केवल संयम के निर्वाह के लिये ही ग्रहण करते हैं, तो वे संसार के

अंकुर रूप विषयों से कैसे मोहित हों ?' इस प्रकार प्रभु के वचनामृतों से सब बन्धुओं को रागद्वेष से रहित, संसार सुख में निःस्पृह और तात के उपदेश से संयमी जान कर भरत महाराजा ने उन सब को नमस्कार पूर्वक वन्दना की।

पीछे भरत ने, छोटे भाइयों को देने के लिये घृत के पक्वान और चावल, दाल आदि अनेक प्रकार के भोजन रसोइयों के द्वारा मँगवाये। उसको भरत महाराजा अपने हाथ से देने लगे, परन्तु 'यह अनेषणीय (अकल्पनीय) है' ऐसा कह कर उन्होंने उसके सामने दृष्टि भी न की। तब 'ये महात्मा मेरे दिये हुए भोजन को भी क्यों नहीं लेते हैं ?' इस प्रकार की चिन्ता में मग्न हुए भरत को फिर जगद्गुरु कहने लगे—'हे राजन् ! यह तो राजपिण्ड है, जिससे यह तो कल्पता ही नहीं, और अन्य पिण्ड भी यदि अभ्याहृत (सामने लाया हुआ) पिण्ड हो, तो वह भी साधुओं को नहीं कल्पे।' ऐसे भगवान् के वचनों को सुन कर भरत नृप खेद पूर्वक विचार करने लगा—'अहो ! मैं अयोग्य होने से इस समय पिता और भाइयों ने अवश्य मेरा सर्वथा त्याग किया मालूम होता है। जिससे यह मेरा अद्भुत राज्य तो वन्ध्यवृक्ष की तरह निष्फल है, क्योंकि जो राज्य आहार के दान से भी भाइयों के उपयोग में नहीं

आता। अवश्य! साधुरूप सत्पात्र के दानरूप आलम्बन विना इतने परिग्रह और आरम्भ के भार से मैं पतित हो गया हूँ? कहा है कि—

नरकं येन भोक्तव्यं चिरं तत्पापपूर्त्तये।
नियुक्ते तं विधी राज्ये बह्वारम्भपरिग्रहे॥

'जिसने चिरकाल तक नरक भोगा हुआ है, उसको इतने पाप की पूर्त्ति के लिये बहुत आरम्भ और परिग्रह वाले राज्य में विधाता जोड़ देता है।' जिनके दिये हुए भोजन वस्त्रादि साधुओं के उपयोग में आते हैं, ऐसे सामान्य पुरुष मेरे से भी धन्य हैं।"

इस प्रकार अत्यन्त खेदित हो जाने से जिसका मुख निस्तेज हो गया है, ऐसे भरत महाराजा को देख कर, उसका खेद दूर करने के लिये इन्द्र ने प्रभु को पूछा कि—'हे स्वामिन्! अवग्रह कितने हैं? और उसके दान से क्या फल होता है?' ऐसा प्रश्न सुन कर प्रभु बोले—'हे सौम्य! अवग्रह पांच प्रकार के हैं 'मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में सौधर्मेन्द्र का अवग्रह और उत्तर दिशा में ईशानेन्द्र का अवग्रह, यह प्रथम देवेन्द्रावग्रह कहा जाता है। चक्रवर्त्ती को छह खंड पृथ्वी का स्वामित्व है, यह दूसरा अवग्रह, स्वदेश के राजा का तीसरा अवग्रह,

शय्यातर (मकान के स्वामी) का चौथा अवग्रह और साधर्मिक साधु जो पहले आकर रहे हों उसका पांचवां अवग्रह जानना। ये पांच अपने २ अवग्रह का दान दें तो वे इष्टार्थसिद्धि को पाते हैं।' इस समय सौधर्म देवलोक का अधिपति खुश होकर भगवान् को कहने लगा—'हे नाथ! सब श्रमण महात्माओं को मेरे समस्त अवग्रह की मैं आज्ञा देता हूँ।' ऐसा सुनकर भरतेश्वर को विचार हुआ कि—'मैं भी साधुओं को मेरे अवग्रह की आज्ञा दे दूं, कारण कि इतना करने से भी मैं कृतार्थ होऊंगा।' पीछे अपने अवग्रह की आज्ञा से होने वाले पुन्य के फल की आशा से, भरत महाराजा अंतःकरण में हर्षित होकर भगवान् को कहने लगा—'हे तात्! छह खंड भरतभूमि में सर्वत्र निःशंक होकर साधु महात्मा अपनी इच्छानुसार विचरें। इस प्रकार मैं मेरे अवग्रह की उनको आज्ञा देता हूँ। परन्तु हे तात्! इस भोजन का अब मैं क्या करूं?' भगवान् बोले—'हे राजन्! जो शुद्ध धर्म और क्रिया में तत्पर हों, स्वल्प आरम्भ और परिग्रह वाले हों, पांच अणुव्रत को पालने वाले हों और सर्वचारित्र-व्रत को चाहते हों ऐसे श्रमणोपासक (श्रावक) भी सत्पात्र कहे जाते हैं।' (यहाँ भगवन्त् ने वह अन्न श्रावकों को देने का सूचित किया है)।

पीछे भरत महाराजा प्रभु की वाणी से श्रद्धायुक्त होकर सब श्रावकों को प्रति दिन विना रोक टोक उत्तम २ भोजन जिमाने लगे। पीछे स्वादिष्ट आहार की लालसा से आहिस्ते २ बहुत लोग कपट से श्रावक बन कर पहले के श्रावकों के साथ मिलते गये, जिससे उनकी संख्या बढ़ गई। एक समय मन में कंटाल कर रसोइयाओं ने भरत महाराजा से विनती की—'हे देव! संख्या में वृद्धि हो जाने से इन श्रावकों को अब हम भोजन नहीं करा सकते!' यह सुन कर तात्कालिक बुद्धि वाले राजा ने दानशाला के रास्ते पर सूक्ष्म बीज बखेर कर सच्चे श्रावकों की परीक्षा की*। जो परीक्षा में पास नहीं हुए, उनको राजा ने श्रावकों से अलग किया और जो पास हुए उनके हृदय पर काकिणी रत्न से तीन २ रेखा का एक चिह्न कर दिया। पीछे प्रत्येक छह २ महीने के बाद राजा नवीन श्रावकों की परीक्षा करता था और इसमें जो पास होते थे उनको फिर वैसी ही निशानी कर देता था। इस प्रकार सच्चे श्रावक प्रतिदिन भरत चक्रवर्त्ती के वहां भोजन करते थे।

चक्रवर्त्ती की प्रेरणा से "जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मान्माहन माहन" आप जीत गये हैं, भय बढ़ा करता है,

---

* जो सच्चे श्रावक थे वे उन बीज पर नहीं चले और दूसरे चले।

इसलिये आत्मगुणों को आप मत हनो मत हनो, इस प्रकार राजा को सावचेत करने के लिये वे (श्रावक) प्रति दिन बोलते थे। सर्वदा इस प्रकार बोलने से शुद्ध श्रावक धर्म में रहे हुए उन लोगों का 'माहना' (ब्राह्मण) ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। श्रावक के अनुष्ठान गर्भित भरत महाराजा के बनाये हुए वेदों को पढ़ते और पढ़ाते हुए वे श्रावक धर्म का प्रचार करने लगे। इस प्रकार उनके वंश में उत्पन्न हुए (ब्राह्मण) क्रमशः सूत की जनेऊ को धारण करने लगे। सुविधिनाथ भगवान् के तीर्थ तक वे महा आस्तिक थे, परन्तु सुविधिनाथ और शीतलनाथ भगवान् के अंतराल में काल के प्रभाव से पल्योपम का चौथा भाग जितना काल साधु-धर्म का विच्छेद हुआ। उस समय साधुओं के अभाव से लोग इन माहनों को धर्म मार्ग पूछने लगे। कितनाक समय तक तो उन्होंने धर्म मार्ग को यथार्थ कहा, परन्तु पीछे से आहिस्ते २ साधुओं के अभाव से निरंकुश होकर वे सर्वदा अपने सन्तान के सुख निर्वाह की इच्छा से 'सुवर्ण, गाय, भूमि और अन्य अच्छी वस्तु, इत्यादि माहनों को दान करने से बड़ा धर्म होता है।' इस प्रकार भद्रिक लोगों को स्वेच्छा पूर्वक कहने लगे। और वे स्वयं परिग्रह और आरम्भ में मग्न तथा अब्रह्म (मैथुन) में आसक्त होने पर भी ब्रह्मबीज होने से वे

अपने आपको सुपात्र कहने लगे। मुग्ध लोगों को ठगने के लिये अपने को इष्ट दान, क्रिया और आचार गर्भित नवीन शास्त्र वे अपनी इच्छानुकूल रचने लगे। साधुओं के अभाव से अज्ञ लोग उनको सद्गुरु मानने लगे, कारण कि वृक्ष रहित प्रदेश में एरण्ड ही बड़े वृक्ष की तरह माना जाता है। मुग्ध लोग उनके वचनों को वेदपद की तरह सत्य मानने लगे। 'जन्मांध मनुष्य को किसान के बतलाये हुए मार्ग में भी क्या संदेह होता है ? अर्थात् नहीं होता।' इस प्रकार आहिस्ते २ वे माहण, जिनमत के द्रोह को करने वाले हो गये। 'विना स्वामी के राज्य में क्या कोटवाल चोरी नहीं करता ?'

इस प्रकार प्रथम प्रभु के अठानवे पुत्रों का भरत ने प्रतिषेध किया उसका वर्णन किया है। अब बाहुबली का भी उसी प्रकार प्रतिषेध किया उसका वृत्तान्त कहा जाता है—

एक दिन राजाओं, अमात्यों, सार्थवाहों, श्रेष्ठियों, नटलोकों और भाट-चारणों से सेवित और राजसभा में बैठे हुए श्री भरतेश्वर को नमस्कार करके सेनापति ने इस प्रकार विनति की—'हे स्वामिन्! चक्र अभी तक आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता।' उस समय भरतेश्वर बोले—भरतक्षेत्र में मेरी आज्ञा को नहीं मानने वाला अभी

कौनसा वीर शत्रु को जीतना बाकी रह गया है ?' यह सुनकर वृद्ध मन्त्री बोला—'हे देव ! प्रताप में सूर्य के समान आपको भरतक्षेत्र में, मनुष्य या देव कोई भी जीतने योग्य देखने में नहीं आता, तो भी देवताओं से अधिष्ठित चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता इसलिये विचारने योग्य है। हाँ ! इस समय याद आया कि बलवानों के बल को दबाने वाला बहली देश का स्वामी और आपका छोटा भाई वीर 'बाहुबली' अभी तक आपकी आज्ञा नहीं मानता। एक तरफ आपकी समस्त सेना हो और एक तरफ फक्त बाहुबली हो, तो भी समानता नहीं हो सकती। जैसे सम्पूर्ण ज्योतिचक्र के साथ सूर्य की समानता नहीं हो सकती।

पृथ्वी पर आप महा बलवान् स्वामी हैं और स्वर्ग में इन्द्र स्वामी हैं, परन्तु हे देव ! इस समय तो आप दोनों से भी बाहुबली जबरदस्त हैं। 'अवश्य ! इस एक को भी मैं नहीं जीत सका तो भारतभूमि में मैंने क्या जीता ?' ऐसा मानकर यह चक्र लज्जित होता है, इसलिये आयुध-शाला में नहीं आता, ऐसा मैं मानता हूँ। साठ हज़ार वर्ष तक संग्राम करके समस्त राजाओं को वश में करने वाले आपका छोटा भाई इस प्रकार अनादर करे तो सारे जगत् में आपकी हँसी होना वास्तविक है। कहा है कि—

स्वेष्ववज्ञास्पदं तन्व-न्नाज्ञैश्वर्यं परेषु यत् ।
नरोऽनास्तृतखट्वोर्ध्वो-ल्लोचवद्धस्यते जनैः ॥

'पलंग के ऊपर कुछ भी बिछाए बिना उसके माथे चाँदनी बाँधने वाले मनुष्य की जैसे, जो मनुष्य अपने सगे सम्बन्धियों में अपमान पाता है वह यदि शत्रु के ऊपर अपनी आज्ञा का ऐश्वर्य चलाने लगे तो लोकों में हास्या-स्पद होता है ।

इस प्रकार मन्त्री के वचनों से प्रेरित, अपने छोटे भाई के दुर्विनय से दुःखित और वैरभीरु होने से सामभेद से ही छोटे भाई को वश करने की इच्छा वाले भरत ने दूत-कला को अच्छी तरह जानने वाले सुवेग नाम के दूत को अच्छी तरह समझा बुझा कर, अच्छे परिवार के साथ बाहुबली के पास भेजा। उस समय दूत के उठते ही दाहिनी ओर छींक हुई, रथ के ऊपर चढ़ते समय वस्त्र का छोर खूंटे में फँस गया, 'यह कार्य करने में भाग्य विपरीत है' मानो ऐसा कहता हो, वैसे रास्ते में जाते समय बायां नेत्र वारम्बार फड़कने लगा, अशुभ को सूचित करने वाले हरिण दाहिनी ओर से बायीं ओर जाने लगे, कष्ट को सूचित करने वाली दुर्गा (शकुन चीड़ी) भी उसके बायीं ओर गई, उसके गमन को रोकने के लिये मानो दैव ने आज्ञा

ही दी हो, वैसे लम्बा काला साँप उसके आगे होकर आड़ा उतरा। इस प्रकार के विघ्नों को सूचित करने वाले अपशकुनों से स्खलित होने पर भी स्वामी के आदेश को पालन करने वाला सुवेग दूत बिना रुके चलने लगा।

रास्ते में यमराज की राजधानी के समान भयंकर, सिंह बाघ आदि से व्याप्त, ऐसी विशाल अटवी (जंगल) का उल्लंघन करके, सर्वत्र अतिशय बलवान् बाहुबली राजा की अन्याय की अर्गला (आगल) समान आज्ञा से हरिण भी जहाँ एक पैर से खड़े हो रहे हैं, समस्त गाँव, नगर, पट्टन और कर्वट जहाँ समृद्धि वाले हैं और जहाँ सब सुख शान्ति वाले राज्य से हर्षित है, ऐसे बहली देश में वह आया। वहाँ सर्वत्र वह आदिनाथ भगवान् और बाहुबली राजा की हर्ष पूर्वक गोपालों के द्वारा गाई हुई स्तुति को सुनता हुआ, भरत महाराजा के भय से अनार्य देशों से भाग कर मानो इस देश का आश्रय लिया हो ऐसे करोड़ों म्लेच्छों को देखता हुआ, जिनका दान ही एक व्रत है ऐसा श्रेष्ठिवर्ग से मीठे वचनों के द्वारा दान लेने के लिये विनती कराते हुए याचकों को प्रत्येक गाँव और शहरों में देखता हुआ, भरत क्षेत्र के स्वामी भरत महाराजा को भी नहीं जानने वाले, सुनन्दा सुत (बाहुबली) को ही समस्त जगत् का स्वामी मानने वाले और अपने

प्राण तक भी अर्पण करके स्वामी का हित करने वाले तथा प्रसन्न रहने वाले, ऐसे बहली देश के लोगों को रास्ते में बारंबार बुलाता हुआ वह सुवेग दूत समृद्धि से स्वर्गपुरी समान तथा खाई और सुवर्ण के ऊंचे किला से परिवेष्टित, ऐसी तक्षशिला नगरी में आ पहुँचा।

वहाँ विस्तीर्ण होने पर भी आने जाने वाले मनुष्यों की भीड़ से संकुचित लगते हुए राजमार्गों का अवलोकन करता हुआ, अनेक प्रकार की वस्तुओं को रखने वाले परदेशी लोगों को, और अनेक प्रकार की वस्तुओं से भरी हुई दुकानों को देख कर मानो राजा के भाग्योदय से ही यहाँ आ पड़े हैं ऐसी कल्पना करता हुआ, अच्छे अलंकार वाले, रूप और सौभाग्य से सुशोभित देवों के समान ऋद्धि वाले श्रेष्ठियों को आश्चर्यपूर्वक देखता हुआ, और रास्ते के विक्षेप से विस्मृत होगई हुई अपने स्वामी की शिक्षा को स्मरण करता हुआ, सुवेग दूत आहिस्ते २ राजमहल के सिंहद्वार (मुख्य दरवाजा) आगे आया। पीछे जगत् में अद्वितीय बल वाले, विशाल ऐश्वर्य और संपदा वाले, जिसको दुःख से देख सके ऐसे स्वाभाविक तेज की शोभा से सूर्य के समान कुमार, मंत्री, सामन्त और सार्थवाह आदि अनेक जिसके चरणों की सेवा कर रहे हैं ऐसे, चारों तरफ़ से अपने सेवकों को प्रेम दृष्टि से देखता

हुआ और शत्रु रूप कन्द का निकन्दन करने वाले, सुनंदा के नन्दन (बाहुबली) की आज्ञा से सभा में प्रवेश करके सुवेग दूत ने बाहुबली को प्रणाम किया।

'यह मेरे भाई का मनुष्य है' ऐसा समझकर स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हुए बाहुबली ने शीघ्र ही उसको पूछा— 'हे भद्र! चतुरङ्गिणी सेना और चक्र से जिसने समस्त राजाओं को आधीन किया है, बहुत वर्षों के बाद दिग्विजय करके अयोध्या आया है, और स्त्री पुत्र और पौत्रादि से युक्त विजयवन्त मेरा बड़ा भाई भरतेश्वर कुशल पूर्वक है?' ऐसा प्रश्न सुनकर अपने स्वामी का उत्कर्ष और शत्रुओं का अपकर्ष करने की इच्छा वाला, जिसका परिश्रम शान्त हो गया है और बोलने में चालाक, ऐसा सुवेग-दूत कहने लगा—'हे राजन्! जिसकी आज्ञारूप वज्र-पंजर के आश्रय में रहने वाले मनुष्यों का यमराज भी किसी समय अनिष्ट करने को समर्थ नहीं है, तो समुद्र के अन्त तक पृथ्वी के स्वामी, आपके बड़े भाई के अशुभ की तो शंका भी कहाँ से हो? दिग्यात्रा से बहुत समय बाद लौट कर मिलने की इच्छा से छोटे भाइयों को स्नेह पूर्वक बुलवाया था, परन्तु वे बड़े भाई का कुछ अनुचित मनमें समझ करके और राज्य का त्याग करके पिता जी के पास चले गये और वहाँ तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण करली। उनके वियोग

रूप अग्नि से वह इस समय मन में बहुत सन्ताप पाता है, इसलिये आप वहाँ आकर आपके समागम रूप जल से उसको शान्त करें। आप उसके सगे भाई ही हैं और इस समय उसका सापत्न्य (शत्रु) भी हैं। हे राजन्! चक्री के सम्पूर्ण राज्य में अन्धे की लकड़ी के समान आप एक ही भाई हैं। बन्धुओं के वियोग से दुःखित हुए बड़े भाई को मिलने के लिये वहाँ आपके आने की बहुत राह देखी जा रही है। कहा है कि—

स निःस्वोऽपि प्रतिष्ठावान्, सेव्यते यः स्वबंधुभिः।
तैः समृद्धोऽप्यवज्ञातः प्रतिष्ठां तु न विन्दति ॥

'जो अपने बन्धुओं से सेवाता है अर्थात् बन्धु वर्ग जिसकी सेवा करता है वह निर्धन होने पर भी प्रतिष्ठा वाला है और लक्ष्मीपात्र होने पर भी बन्धुओं से अवज्ञा पाता है वह प्रतिष्ठा के योग्य नहीं हो सकता।' इन्द्र के जैसे तेजस्वी और अखण्ड शासन वाले भरतेश्वर का समस्त राजाओं ने बारह वर्ष तक निरन्तर असाधारण उत्सव पूर्वक छः खण्ड भरत के ऐश्वर्य का अभिषेक किया, इस शुभ अवसर में आप व्यवहार में कुशल होने पर भी वहाँ न आये, जिससे कितने ही लोग शंका करने लगे हैं कि 'आप दोनों भाई में परस्पर कलह है।' हे राजन्! यह

हकीकत मित्रों के हृदय में अत्यन्त दाह तुल्य है और दूसरों के विघ्न में सन्तुष्ट होने वाले शत्रुओं के मन में सन्तोषकारक है। इसलिये हे भूपते! सार्वभौम ज्येष्ठ बन्धु के पास तुरन्त आकर उसकी सेवा करो, कि जिससे शत्रुओं के मनोरथ मन में ही नाश हो जायँ। बुद्धिशाली, दाता, तेजस्वी, न्याय में चतुर और लक्ष्मी वाले बड़े भाई को यदि आप स्वामी मानेंगे तो अवश्य! सुवर्ण में सुगन्ध जैसा होगा। सार्वभौमपन से भी आप उसकी सेवा करेंगे तो वह सेवा बड़े भाई के विनय और स्नेह को लोक में प्रकाशित करेगी। फिर ऐसा भी मन में न समझना कि उसका अपमान करने से भ्रातृभाव के कारण मेरा अप्रिय नहीं करेगा। क्योंकि युद्ध में स्वजन सम्बन्ध नहीं माना जाता। जिस स्वामी के रोष और तोष का फल प्रत्यक्ष देखने में आवे ऐसे स्वामी की, अपना भला चाहने वाले को तो सेवा ही करनी चाहिये, अनादर कभी भी नहीं करना चाहिये। संग्राम में समस्त राजाओं को लीलामात्र में जीतकर, क्षुद्र हिमवन्त पर्वत तक उसने भारत भूमि को आधीन कर लिया है और अयस्कान्त मणि (चुम्बक) जैसे लोहखण्ड को खींचती है, वैसे प्रकृष्ट पुण्य से खिंचकर मनुष्य, देव और असुर सेवा करने के लिये भरतेश्वर के पास आते हैं। मनुष्य और देव तो दूर रहे, परन्तु सौधर्मेन्द्र भी अपना

अर्द्ध आसन देकर उसका बहुमान करता है। गर्व से उस की अवज्ञा करने वाले सैन्य के साथ रण-संग्राम में, भरतेश्वर के सैन्यरूप समुद्र की भरती आते ही सथवा के चूर्ण की मुठी की तरह उड़ जाता है। समस्त पृथ्वी को प्लावयमान करने वाले जिनके हाथी, घोड़े, रथ और सुभटों को समुद्र के तरंगों की तरह कौन रोक सकता है? एक दम आती हुई संख्यावन्ध शत्रुओं की सेना को रोकने के लिये उनका एक सुपेण सेनापति भी समर्थ है। जिसने लीलामात्र में समस्त शत्रुओं को पराजित किया है, ऐसा कालचक्र की तरह आता हुआ चक्रायुध को कौन रोक सकता है? भाग्य से आकर्षित होकर इच्छित समस्त वस्तुओं के भण्डार रूप नव विधान सर्वदा उनके पैर के नीचे चलते हैं। जिससे हे राजन्! कर्णकटुक होने पर भी परिणाम में हितकारक मेरा कहा हुआ यदि आप मानते हों तो एकाग्रभाव से वहाँ आकर सम्राट् की सेवा करो। आप मेरे स्वामी के लघु बन्धु हैं, इसलिये स्नेह से इस प्रकार कहना पड़ता है। अब आप उचित समझें वैसा करें; कारण कि बुद्धि कर्मानुसारिणी है।'

इस प्रकार सुवेग दूत के कोमल और कर्कश वचनों को सुन कर ऋषभ स्वामी के पुत्र बाहुबली राजा इस प्रकार कहने लगे—"हे सुवेग! सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होने पर

भी बहुत दूर रहने वाले अपने सम्बन्धी का कुशल समाचार उसके पास से आये हुए मनुष्य से पूछना यह दूषण नहीं है और लोभी हृदय वाले भरत का छोटे भाइयों के प्रति प्रेम तो उनके राज्य ग्रहण करने से ही मालूम हो जाता है, तो तेरे इन मृषा वचनों से क्या विशेष है? दूसरों के राज्य को ग्रहण करने में व्यग्र होने से ही बड़े भाई ने इतना समय तक छोटे भाइयों के राज्य न लिये, ऐसा मैं मानता हूं। कारण कि जैसे जठराग्नि दूसरे आहार के अभाव में आंतर धातुओं को भी ग्रहण करता है, वैसे दूसरे राज्य-ग्रहण के व्यापार का अभाव होते ही इस समय भाइयों के राज्य ले लिये हैं। 'बड़े भाई ने तुच्छता की, तो भी बड़े भाई के साथ युद्ध कैसे हो?' ऐसी दाक्षिण्यता से ही निर्लोभी होकर छोटे भाइयों ने दीक्षा स्वीकार ली है। मैं ऐसा लोभ रहित प्रकृति वाला और दाक्षिण्यता वाला नहीं हूँ। तेरा अज्ञ स्वामी अत्यन्त लोभी हो गया मालूम होता है, कि जिससे पिता के दिये हुए मेरे राज्य को भी वह छीन लेने को तैयार हो गया है। परन्तु हे भद्र, ऐसा करने से वह अपने घर के घी से भी अवश्य भ्रष्ट होंगे। छोटे भाइयों का राज्य ले लेने से ही उसने कुटुम्ब में कलह बोया है, तो अब मैं उसके साथ कलह करूँ इसमें मेरा क्या दोष? वह तू ही कह। यदि

छोटे अपने ऊपर बड़े का अकृत्रिम स्नेह देखे, तो जैसे गौ के पीछे वाछरड़ी फिरा करती है वैसे उसके पीछे २ फिरा करे, किन्तु भरत तो ऐसा स्नेही नहीं है। प्रथम तीर्थङ्कर, परम ब्रह्मरूप, स्वर्ग और मोक्ष के गवाह रूप एक पिताजी ही हमारे स्वामी हैं। परन्तु 'मिथ्याभिमानी और धान्य के कीट समान भरत हमारा स्वामी' ऐसी किंवदन्ती भी हमारे हृदय में लज्जा उत्पन्न करती है। अब तो कभी भ्रातृस्नेह से भी मैं उसकी सेवा करूं तो भी अवश्य लोकों के मुख पर ढक्कन न होने से 'यह चक्रीपन से उस की सेवा करता है' ऐसे बोलते हुए वे किस प्रकार रुक सके? संग्राम के प्रसंग में और स्वजन-सम्बन्ध के अभाव से वह मेरे राज्य को सहन न कर सकेगा, तो मैं भी उसके छह खण्ड के राज्य को सहन नहीं करूंगा। मैं मानता हूँ कि—जैसे सेनापति समस्त राजाओं को जीत कर ऐश्वर्य अपने स्वामी को देता है, वैसे मेरे लिये ही उसने इतना ऐश्वर्य उपार्जन किया है। कहा है कि—

कष्टार्जिताया निर्भाग्यैः श्रियो भोक्ता भवेत् परः।
दलितेक्षो रदैर्दुःखा—ज्जिह्वैवाप्नोति तद्रसम्॥

'भाग्य रहित पुरुषों के कष्टों से उपार्जित की हुई लक्ष्मी को भोगने वाला दूसरा ही होता है। दांत कष्ट से इक्षु (गन्ना) को चावते हैं, परन्तु उसका रस (स्वाद) तो

जीभ को ही मिलता है।' यदि तेरे राजा के जैसे मैं तृष्णा वाला होकर भ्रमण करूँ तो महा हिमवंत पर्वत तक भूमि को जीत सकूं; परन्तु निर्बल पुरुषों के ऊपर मन में दया होने से और अपने राज्य के सुख में सन्तुष्ट होने से दूसरे के राज्यों को ग्रहण करने में मैं उदासीनता ही रखता हूँ। लोभ से वशीभूत हुए हजारों राजा उसकी सेवा करें, परन्तु सन्तुष्ट मन वाले हम उसकी सेवा क्यों करें? यदि दीन वचन बोल कर के नम्र कर के या बारंबार दूसरों की खुशामद कर के बड़े २ राज्य भी प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ऐसे राज्यों का हमको कुछ भी प्रयोजन नहीं है। सौधर्मेन्द्र तात के चरणों में भक्ति वाला होने से, एवं भरत तात का प्रथम-ज्येष्ठ-पुत्र होने से उस का बहुमान करता है, परन्तु उसके वीर्य या ऐश्वर्य के गुणों से वह उसका बहुमान नहीं करता। उसके सैन्यरूप समुद्र में दूसरे राजा सैन्य के सहित सथवा की मुठी जैसे हो जाय, परन्तु मैं तो वहाँ तेज से दुःसह ऐसा वडवानल ही होऊँगा। सेवक जन राजा की, माता पुत्र की और याचक दातार की प्रशंसा करे, जिससे वे प्रतिष्ठापात्र नहीं होते। स्वयं नपुंसक जैसा है, उसके सेनापति, आयुध और हाथी आदि सैन्य का वर्णन करना, यह अन्धे के पास दीपक का उद्योत करने जैसा निष्फल है। शूरवीर पुरुषों को सेना आदि का

आडम्बर तो शोभामात्र है। रणसंग्राम में चढ़ते समय वे अपने प्रचण्ड बाहुदण्ड को ही हृदय में सहायकारक मानते हैं। मेरे भाई के बाहुबल को तो मैं पहले से ही जानता हूँ। कारण कि बाल्यावस्था में क्रीड़ा करते समय मैं उसको सैकड़ों बार आकाश में उछालता था, और पीछे 'अरे! यह बेचारा मर जायगा' इस प्रकार देवों के कहने से नीचे गिरते समय मैं दया लाकर उसको दो हाथों से बीच से ही पकड़ लेता था। इस समय वह ऐश्वर्य वाला हो गया है, जिससे वह सब भूल गया हो ऐसा मालूम होता है, कि अब वह इस प्रकार मुझे आज्ञा करता है। उसके इतने ऐश्वर्य को जो मैं सहन करता हूँ, यही मेरा सेवा है। कारण कि बाघ के पास तो ऐसा ही भेजना कि जिसका वह भक्षण न कर सके। अब अन्त में इतना ही कहता हूँ कि वीर अभिमानी भरत यदि मेरे से सेवा चाहता हो तो एक बार अपनी वीरता संग्राम में मुझे बतलावे। इस लिये हे सुवेग! तू शीघ्र ही जा कर तेरे स्वामी को कहे कि—जैसे केसरी सिंह पलान को नहीं सहता, वैसे बाहुबली आपकी आज्ञा सहन नहीं करता।' इस प्रकार वीरता से संग्राम को सूचित करने वाली अपने स्वामी की वाणी को कुमार, मंत्री और सामन्तों ने हर्ष पूर्वक स्वीकार कर लिया।

अब क्रोधायमान होते हुए अंगरक्षकों ने अपने स्वामी की आज्ञा से दूत को जीवित ही जाने दिया। तब सुवेग दूत कुछ धैर्य रख कर तुरन्त ही सभा में से उठकर चलने लगा। रास्ते चलते समय उसने नागरिक लोकों का इस प्रकार परस्पर वार्त्तालाप सुना—"यह नवीन पुरुष कौन है? यह भरत का दूत है। वह भरत कौन? बाहुबली का बड़ा भाई। वह इस समय कहाँ है? अयोध्या में राज्य करता है। उसने इसको यहाँ क्यों भेजा? अपनी सेवा के लिये बाहुबली को बुलाने के लिये। तब तो वह दुर्दैव से मतिहीन हुआ मालूम होता है, क्योंकि तीन जगत् को जीतने वाले अपने छोटे भाई के बाहुबल को वह मूर्ख नहीं जानता क्या? यह अनुभव ज्ञान तो उसको बाल्यावस्था में था, परन्तु इस समय मीठे बोलने वाले अपने मनुष्यों के वचनों से उत्तेजित होकर ये सब भूल गया मालूम होता है। परन्तु मीठे २ बोलने वाले ये सब युद्ध में अवश्य भाग जायँगे और भरत अकेला बाहुबली के बाहुबल की व्यथा को सहन करेगा। अरे! विचार पूर्वक सलाह देने वाला उसके पास कोई सूपक भी मंत्री नहीं है? उसके पास तो बहुत बुद्धिशाली प्रधान हैं। तब ऐसा अहित कारक कार्य करते समय उसको क्यों नहीं रोका? अरे! उन्होंने ही इस कार्य में उसको प्रेरित

किया है। कारण कि जो होनहार है वह अन्यथा नहीं होता। तब तो इस मूढ़ ने आज अवश्य सोता हुआ सिंह ने जगाया है और वायु के सामने अग्नि जलाया है। वलिष्ट बाहुबली समस्त पृथ्वी जीतने को समर्थ होने पर भी अपने ठिकाने वह सुख से बैठ रहा था, तो भी उसने बाहुबली को अपना शत्रु बना दिया यह अच्छा नहीं किया।" इस प्रकार नगरवासियों की उक्ति प्रत्युक्ति को सुनता हुआ वह दूत तक्षशिला नगरी से शीघ्र ही बाहर निकल गया।

अब रास्ते चलते समय वह दूत इस प्रकार विचारने लगा कि—'अहो! अपना महाराजा ने यह बिना विचारा कार्य किया है! छह खंडों के राजाओं से सेवाते हुए उसको क्या कम था, कि 'वाहन के लिये केसरी सिंह की जैसे' अपनी सेवा के लिये इसको बुलवाया ? अरे! अपने को कुशल मानने वाले और कुल परंपरा से आये हुए मंत्रियों को भी धिक्कार हो कि जिन्होंने अपने स्वामी को इस समय ऐसा अत्यन्त दुःसाध्य कार्य में प्रवृत्त किया। अब यह कार्य करने में या छोड़ने में दोनों प्रकार शुभ-कारक नहीं होगा। कहते हैं कि—'साँप ने छछूंदर को पकड़ा' अब इसको छोड़ दे तो अंधा हो जाय और निगल जाय तो मर जाय।

जइ गलइ २ उयरं पच्चुगालिए गलंति नयणाइं।
हा त्रिसमा कज्जगइ अहिणा छच्छुन्दरी गहिया ॥

'यदि साँप छछूंदर को पकड़े, किन्तु उसको निगल जाय तो पेट गल जाय और छोड़ दे तो नेत्र नष्ट हो जाय। अहा! इस प्रकार कार्य की गति विपम हो गई है।' फिर 'इसने जाकर दोनों भाइयों में परस्पर विरोध कराया' इस प्रकार मेरा भी अवर्णवाद होगा, इसलिये गुण को दूषण लगाने वाला इस दूतपन को धिक्कार है।" इत्यादि अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों से व्याकुल मन वाला वह क्रमशः अयोध्या पहुँच कर श्याम मुख से अपने स्वामी को नमा। 'बाहुबली के पास से यह अपमान पाकर आया हुआ मालूम होता है' ऐसा उसका मुख देखने से ही समझ गये, तो भी मन में रंज हुए विना भरत महाराजा ने उसको पूछा—'हे भद्र! शाखा और प्रशाखा वाला विशाल वट वृक्ष की तरह विस्तार वाले बलिष्ठ बाहुबली कुशल है? वह कहे कि जिससे मुझे हर्ष हो।

इस प्रकार आदर पूर्वक अपने स्वामी के पूछने से वह सुवेग दूत मन में कुछ सन्तोष पाकर और विनय से मस्तक नमा कर कहने लगा कि—'सचमुच! चक्रवर्त्ती के चक्र को और इंद्र के वज्र को भी सेके हुए पापड़ की तरह

एक मुठी से ही चूर्णकर डाले ऐसा बाहुबली है। प्रसंगो-पात्त आपका सेनापति और सैन्यादिक का मैंने वर्णन किया, तब 'इससे क्या!' ऐसा कह कर दुर्गन्ध से जैसे नाक मरोड़े वैसे वह अपनी गर्दन मरोड़ने लगा। पुत्र पौत्र और प्रपौत्र आदि करोड़ों जहाँ अत्यन्त बाहुबल वाले हैं, फिर सचमुच! गिरते हुए आकाश को भी रोक सके ऐसे उसके कुमार हैं। उस वीराधिवीर आपके छोटे भाई का अमंगल करने में देवों का देव (इंद्र) भी असमर्थ है, ऐसा मैं मानता हूँ।' इस प्रकार कुशलता पूर्वक चक्री ने किये हुए प्रश्न का उत्तर देकर, पीछे बाहुबली के उस प्रकार के उच्च नीच वचनों को विस्तार पूर्वक अपने स्वामी के आगे अच्छी तरह निवेदन किया। अन्त में उसका तत्त्व (सारांश) इस प्रकार कहा—'आपकी सेवा के लिये मधुर और कठोर शब्दों से उसको मैंने बहुत कहा, परन्तु जैसे मदोन्मत्त हाथी अंकुश को नहीं समझता, वैसे उसने नहीं माना। गर्व से जिसके हाथ में निरन्तर खाज चला करती है ऐसा प्रबल बाहुदंड वाला प्रतापी आपका छोटा भाई यहाँ युद्ध करने की इच्छा से आ सकता है, परन्तु आपकी सेवा करने के लिये नहीं आ सकता। फिर हे प्रभो! अति भक्ति वाले, तेजस्वी और बड़े उत्साही ऐसे सामन्त राजा और सुभट भी उसके विचार से लेशमात्र भी भिन्न नहीं

हैं। युद्ध में श्रद्धा वाले और बड़े प्रभावशाली उसके सर्व कुमार शत्रुओं के साथ द्वेष खड़ा करके उसका निग्रह करने वाले हैं। आजीविका के कारण से आधीन रहे हुए सामंत राजा और सुभट तो दूर रहें, परन्तु सचमुच! उसकी समस्त प्रजा भी अपना प्राण दे करके उसका इष्ट करने चाहती है। जिसने अपनी आँख से भी उसको देखा नहीं है तो भी गुणों से उसके आधीन रहे हुए पहाड़ी भील लोग भी आपकी सेना को नाश करने चाहते हैं। यह आपको इष्ट हो या अनिष्ट हो परन्तु मैं तो सत्य कहता हूँ। कारण कि सेवकों को स्वामी को मिथ्या वचनों से नहीं ठगना चाहिये। इस प्रकार छोटे भाई का वृत्तान्त जान कर, अब आपको पसन्द हो वैसा करें। कारण कि सत्य कहने वाले दूत होते हैं परन्तु मन्त्री नहीं होते।'

दूत के मुख से अपने लघुबंधु के अवज्ञा कारक वचनों को सुनने पर भी खेद रहित नराधीश कहने लगा—जगत् को जीत सके ऐसे अतुल क्षात्र तेज वाले उस छोटे भाई ने दूसरे राजाओं के शासन को सहन न किया, यह अवश्य युक्त ही है। कहा है कि—

आलानं शरभः श्रेष्ठः, सिंहोऽन्यश्वापदस्वनम्।
जात्यश्वश्च कशाघातं, सहते यन्न कर्हिचित्॥

श्रेष्ठ ऐसा अष्टापद* आलान स्तम्भ को, सिंह अन्य श्वापदों (पशु) के आवाज को और जातिवन्त घोड़ा चाबुक के प्रहार को कभी सहन नहीं कर सकता।' बलवान् लघु बन्धु से मैं सर्वथा प्रशंसनीय हूँ। कारण कि एक भुजा कमजोर हो तो उसके प्रमाण में दूसरी बलिष्ट लगती है। स्त्री, धन, पुत्र और सुभट इत्यादि जगत् में मिलना सुलभ है, परन्तु विशेष करके ऐसा बलवान् बन्धु कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। पहले सेवा के लिये मैंने छोटे भाइयों को बुलवाया था जिससे उन्होंने तुरन्त ही दीक्षा स्वीकार करली; यह शरम आज तक भी मेरे हृदय में नहीं समाती। इस बलवान् छोटे भाई ने 'मेरी आज्ञा इस पृथ्वी पर प्रख्यात है' ऐसा जो माना है, तो पीछे ऐसे ऊंच नीच वचनों से वह मेरी अवज्ञा करे या तो अपराध सहन करने से लोक मुझे अशक्त कहे, परन्तु इस बन्धु के साथ मैं विरोध करना नहीं चाहता।' इस प्रकार कहने बाद अपने कथन की योग्यायोग्य स्पष्टता के लिये भरत ने स्नेह दृष्टि से सभासदों के सामने देखा। तब बाहुबली ने की हुई अवज्ञा से और स्वामी ने की हुई

---

* आठ पग वाला पशु विशेष, यह हाथी से अधिक बलवान् होता है।

क्षमा से मन में दुःखित हुआ सुषेण सेनापति खड़ा होकर चक्री को इस प्रकार कहने लगा—

"हे देव ! दीन, दरिद्र, दुःखी, भयभीत, अंध, लूले और लँगड़े इत्यादि दया के योग्य हैं, उनके पर राजा क्षमा करे यह युक्त है; परन्तु अपनी भुजा के पराक्रम से उच्छृङ्खल और आज्ञा का अपमान करने वाले दुष्ट बुद्धि वाले को तो प्रजा के हितैषी राजा ने शिक्षा करनी चाहिये। दुष्ट-बुद्धि वाले का दलन करना, सद्बुद्धि वाले का पालन करना और आश्रित जनों का पोषण करना, यह राजाओं का धर्म है। कहा है कि—

शठदमनमशठपालन-
माश्रितभरणानि राजचिह्नानि।
अभिषेकपट्टबन्धो,
बालव्यजनं व्रणस्यापि ॥

'शठ का दमन करना, सरल मनुष्य का रक्षण करना और आश्रित जनों का पालन पोषण करना, ये राजाओं के मुख्य लक्षण हैं। बाकी अभिषेक, पट्टबन्ध और चामर ढलना ये राजचिह्न हैं, ये तो व्रण (फोड़े) को भी होते हैं। अर्थात् जल से अभिषेक (प्रक्षालन), पाटा का बंधन और पखा से पवन इतने तो फोड़े को भी करने पड़ते हैं।'

बड़े पुरुष धन, सेवक, पुत्र, मित्र, कलत्र और अन्त में अपने प्राण का भी भोग देकर अपनी उन्नति को बढ़ाना चाहते हैं। हे देव! यदि ऐसा न होता तो आपके राज्य में आपको क्या न्यूनता थी, कि जिससे इतना बड़ा दिग्विजय आपने किया? परन्तु ये सब वृद्धि के लिये ही किये हैं। मानी पुरुष शत्रु से पराभव होने के भय से किसी प्रकार भी अपना तेज कायम रखने के लिये जीवित को सुख पूर्वक छोड़ देते हैं। कारण कि मान का मूल स्वतेज ही है। जैसे वणिग् लोग धन के योग (नवीन प्राप्त करना) और रक्षण का विचार किया करते हैं, वैसे बड़े पुरुषों को भी हमेशा समस्त उपायों से अपने तेज के योग और रक्षण के कारण विचारने चाहिये। हे स्वामिन्! शीतल प्रकृति वाले बनिये की सरलता ही प्रशंसनीय है; परन्तु जिसको तेज ही प्रधान है, ऐसा क्षत्रिय यदि सरलता रक्खें तो वह हास्यास्पद होता है। तेजस्वी प्रकृति वाले पुरुषों से शत्रु प्रायः डरते ही रहते हैं और सरल स्वभावी हो तो शत्रुओं से सर्वदा पराभव पाते हैं। कहा है कि—

तुल्येऽपराधे स्वर्भानु—र्भानुमन्तं चिरेण यत्।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्॥

दोनों का तुल्य अपराध होने पर भी* राहु चन्द्रमा को बारम्बार ग्रहण करता है और सूर्य को बहुत काल में ग्रहण करता है। यही सरलता का प्रत्यक्ष फल है।' हे प्रभो! राजाओं के मुकुटों से स्पर्शित चरण वाले और तीव्र तेज वाले आपका यह बाहुबली बन्धु, जैसे राहु सूर्य के तेज का विनाशक है वैसे आपके तेज का निश्चय विनाश कारक है। समस्त राजाओं पुष्पमाला की तरह आपकी आज्ञा अपने मस्तक पर धारण करते हैं और आपका लघु-बन्धु आपकी आज्ञा को नहीं मानता जिससे वह अवश्य शत्रुरूप ही है। अपनी भुजा के बल के गर्व से वह आपको तृण समान मानता है, इसलिये हे प्रभो! यदि आप भारत-वर्ष का चक्रवर्त्ती हो तो इस दुरात्मा को आधीन करो। हे स्वामिन्! सब शत्रुओं को नाश करने वाला यह चक्र भी आयुधशाला में प्रवेश नहीं होता है, यही मेरे कहे हुए भाव को ही दृढ़ करता है। हे भरताधीश! यदि मैं कुछ अयुक्त बोलता हूँ तो ये बुद्धि के निधान अमात्य भी मुझे खुशी से युक्तिपूर्वक रोकें।'

---

* राहु के साथ चन्द्र और सूर्य को समान वैर है ऐसा अन्य शास्त्रों में कहा है उसमें सूर्य प्रतापी होने से उसका ग्रहण क्वचित ही होता है और चन्द्रमा नरम होने से उसका ग्रहण बारम्बार होता है। यह सारांश है।

इस प्रकार सेनापति का कथन सुनकर, नीतिज्ञ मुख्य प्रधान उठकर स्वामी को कहने लगा—"हे देव! पराक्रमी और स्वामीभक्त इस सेनापति का कहना योग्य ही है। हे स्वामिन्! स्नेहरहित लघुबन्धु के ऊपर जो आपका स्नेह है, वह वेश्या के ऊपर का स्नेह जैसा है। जिससे, हे विभो! सचमुच आप एक हाथ से ताली बजाने जैसा करते हैं। मुख में मिष्ट और मन में दुष्ट ऐसी वेश्याओं से भी मुख और मन दोनों में दुष्ट ऐसा आपका लघुबन्धु तो बढ़ जाता है। फिर समस्त राजाओं को जीतने वाले और उन्हों के नेता आपका इस लघुबन्धु से यदि पराजय हो जाय, तो समुद्र से पार पाने वाले को गोष्पद में डूबने जैसा है। भाई के साथ युद्ध करने के लिये सैन्ययुक्त जाते समय 'मेरा लोक में अवर्णवाद (निन्दा) होगा,' ऐसी झूठी शंका भी आपको मन में नहीं लाना चाहिये। कारण कि दो सपत्नी (शोक्य) का बहिनपन और उनके पुत्रों का बन्धुपन उसमें प्रत्यक्ष वैर ही दिखता है, जिससे वह सम्बन्ध तो फक्त नाम का ही होता है, अर्थात् वहाँ स्नेह नहीं होता। परस्पर के तेज को नहीं सहने वाले मनुष्यों में ओरमान भाई प्रायः स्वभाव से ही शत्रु होता है। उसमें भी राजाओं में तो विशेष करके शत्रुभाव होता है। आज्ञा का अपमान करने वाले भाई को शत्रु समझ कर, उसके ऊपर

चढ़ाई करनी, इस में लोक और शास्त्र भी सम्मत हैं। इसलिये तेज के भण्डार रूप लघुबन्धु का तुरन्त उच्छेद (नाश) करना आपको योग्य है। कारण कि शत्रु और व्याधि की उपेक्षा करने से वे महान् अनर्थ कारक होते हैं।' इस प्रकार मुख्य मन्त्री का कथन सुनकर समस्त सभासद, स्वामीभक्त सामन्त और बड़े उत्साह वाले अन्य राजागण आदि ने भी इस बात की सलाह दी। अपना भाई होने से उसके ऊपर चक्री का मन तो स्नेहालु था, परन्तु सेनापति आदि ने उक्त विचार बतला करके तुरन्त ही उस का मन विरोध से निःस्नेही कर डाला। कहा है कि—

वल्ली नरिंदचित्तं, वक्खाणं पाणिअं च महिलाओ।
तत्थ य वच्चन्ति सया, जत्थ य धुत्तेहिं निज्जन्ति॥

'लता, राजाओं का मन, वृक्ष, पानी और स्त्री ये सब जहाँ धूर्त्त लोक ले जाँय, वहाँ चले जाते हैं।'

उसके बाद लघुबन्धु को जीतने की इच्छा वाले चक्रवर्त्ती ने क्रोधपूर्वक तुरन्त ही प्रयाण को सूचित करने वाली ढक्का (वाद्यविशेष भेरी) बजवाई। तब भेरी के शब्द के संकेत से समस्त लश्कर चारों ओर से शीघ्र ही इकट्ठा हो गया। शूरवीरतादि गुणों से राजा के मानो प्रतिरूप हों, ऐसे आदित्ययशा आदि करोड़ों राजकुमार भी वहाँ इकट्ठे हो

गये। स्वामी के कार्य में उत्साह वाले, शत्रुओं के हृदय में दाह देने वाले और रत्नों के मुकुटों को धारण करने वाले ऐसे हज़ारों राजाओं, समस्त सामग्री से युक्त और शत्रुओं से सहन न हो सके ऐसे पराक्रम वाले चौरासी लाख रथ वाले, चौरासी लाख घोड़ेसवार और चौरासी लाख हाथी की सवारी करने वाले वहाँ इकट्ठे हो गये। आकाश में लीला पूर्वक उछाल २ कर शस्त्रों को ग्रहण करते हुए भक्ति वाले और श्रम को जीतनेवाले करोड़ों (९६ करोड़) वीर सुभट भी वहाँ आ पहुँचे।

इस प्रकार समस्त सैन्य से घिरे हुए और चारों दिशाओं में शत्रुओं को कंपायमान करते हुए चक्रवर्त्ती ने बहली देश के तरफ़ प्रयाण किया। उस समय समस्त शत्रुओं को विनाश करने की उत्कंठा से मानो शीघ्रता उत्पन्न हुई हो, ऐसा चक्ररत्न चक्रवर्त्ती के आगे आकाश मार्ग में चलने लगा।

'इतने सैन्य के परिवार वाला यह राजा कहाँ जा रहा है?' यह तो स्वेच्छा पूर्वक वसुधा का अवलोकन करने के लिये निकला होगा।' 'तो जिसने समस्त शत्रुओं को वशीभूत कर लिया है, ऐसा यह चक्र आगे क्यों चलता है?' 'तब तो भरतक्षेत्र में भी इसको कोई शत्रु जीतना बाकी रहा होगा।' 'परन्तु इसका शत्रु तो कोई दीखता

नहीं है।' 'अरे! इस सम्राट् को कोई जीतने योग्य हो या न हो, परन्तु इसका छोटा भाई इन्द्र के जैसा बलवान् बाहुबली जीतना बाकी है।' 'तब तो उसको जीतने के लिये ही इस राजा की तैयारी दीखती है।' अहो! तब तो यह बिना विचारा काम करता है। कारण कि यहाँ इसका विजय होगा, तो भी उसकी अल्प ही प्रतिष्ठा होगी, परन्तु यदि पराजय हुआ तो इसकी बड़प्पन में बहुत बड़ी हानि होगी। कहा है कि—

अन्यच्च भ्रातृ पुत्राद्या दक्षैः क्वचन दुर्नये।
शिक्षणीया रहस्येव द्वयानां लघुतान्यथा॥

'कभी भाई या पुत्रादिक की किसी जगह भूल हो जाय, तो चतुर मनुष्यों ने उनको एकान्त में ही शिक्षा देनी चाहिये; अन्यथा (ऐसा न करे तो) दोनों की लघुता होती है।'

'जिसने छह खंड का राज्य अपने आधीन किया है, ऐसे राजा को अपने लघुभ्राता के राज्य की क्या न्यूनता रही थी?' 'अहो! इतना ऐश्वर्य वाला होने पर भी इसको कितना लोभ है? अवश्य! बड़े पुरुषों को भी कषायों को जीतना बहुत कठिन है।' इस प्रकार सम्राट् के प्रयाण के समय गाँव २ और शहर २ के मार्ग में सर्व लोग परस्पर बातचीत करते थे।

सैन्य के बहुत भार से शेषनाग की ग्रीवा को नमाते हुए, अविच्छिन्न वाद्यों के शब्दों से वसुन्धरा को शब्दाय-मान करते हुए, सैन्य की बहुलता से समस्त सीमा में घास और जल को दुर्लभ करते हुए, परन्तु शत्रुओं के मुखों में घास और उनकी स्त्रियों की आँखों में जल को सुलभ करते हुए (अर्थात् शत्रु मुख में तृण लेकर बैठते थे और उनकी स्त्रियें आँख में आँसू ला रही थीं)। कल्पांत-काल के क्षुभित समुद्र की तरंगों की तरह अपनी सेना से 'वह राजा तो शीघ्र हीं पराजित हुआ' ऐसे मानता हुआ, लघुबंधु को मिलने के लिये ही मानो उत्कंठित हुआ हो, ऐसे अत्यन्त हठ में आकर रास्ते में अविच्छिन्न प्रयाण को वेग से करता हुआ और सर्वत्र अपना विजय हो जाने से यहाँ भी अपने को जयशील मानता हुआ भरत नरेन्द्र बहली देश की सीमा के पास आ पहुँचा।

विजय प्राप्त करने की इच्छा वाला अपना बड़ा भाई अपनी सीमा (हद) के नज़दीक आ पहुँचा है, ऐसा अपने चरलोकों से जान कर उसी समय बलिष्ट बाहुबली राजा ने भी रणभेरी बजवाई और नगर में से बाहर निकल कर उसके सम्मुख आया। कारण कि बलिष्ट मनुष्य शत्रुओं ने किया हुआ अपनी सीमा के अतिक्रमण को सहन नहीं कर सकते।

उस समय किसी स्त्री ने संग्राम में उत्कंठा वाले अपने पुत्र को पति के सामने इस प्रकार कहा—'हे वत्स! युद्ध में इस प्रकार पराक्रम बतलाना, कि जिससे किसी प्रकार का विकल्प उत्पन्न न हो। किसी स्त्री ने पुत्र को कहा कि—'हे पुत्र! मैं वीर पुरुष की पुत्री और वीर पुरुष की पत्नी हूँ, इसलिये संग्राम में तू इस प्रकार लड़ना कि जिससे मैं वीर प्रसूता भी हो जाऊँ।' कोई स्त्री अपने पति को इस प्रकार कहने लगी कि—'हे कान्त! रणांगण में मुझे हृदय में रखकर पीछे पैर नहीं करियेगा। कारण कि इस लोक और परलोक में आप ही मेरे आधार हैं (अर्थात् यहाँ आपके पीछे सती होऊँगी और परभव में आपकी देवी होऊँगी)।' संग्राम में जाने वाले किसी पुरुष ने अपनी प्रिया के मुख ऊपर स्नेह पूर्वक पत्रवल्ली रची, तब उसका मित्र हास्य पूर्वक उसको कहने लगा—'हे मित्र! आज तो अश्व (घोड़े) ही सजावट के योग्य हैं, परन्तु स्त्री सजावट के योग्य नहीं। कारण कि लड़ाई में तो घोड़े के साथ ही अपने शत्रुओं के प्रहार सहन करने हैं।' यह सुन कर वह स्त्री कहने लगी—'रस्सी से बंधे हुए घोड़े तो संग्राम में बलात्कार से मारे जाते हैं, परन्तु स्त्रियें तो अपने आप पति के पिछाड़ी मरती हैं। जिससे उसकी यह पत्रक्रिया है।' कोई बालक शौर्य से अपने

हाथ में काष्ट की कृपाण (खड्ग) को कम्पाता हुआ, लड़ने जाने वाले अपने पिता को 'मैं भी आपके साथ आऊँगा' इस प्रकार कहने लगा। इस प्रकार माता, पत्नी आदि से रणकर्म में उत्तेजित किये हुए स्वामी भक्त करोड़ों सुभट बाहुबली के पिछाड़ी चले। धीर, वीर आदि गुण वाले और चतुरंगिणी सेना से युक्त सुनन्दा-सुत (बाहुबली) भी शीघ्र ही अपने देश की सीमा के किनारे पर आ पहुँचा।

अपनी २ छावनी में साम सामने ठहरे हुए वे दोनों ऋषभदेव के पुत्र, प्रलयकाल में उद्यत हुए पूर्वसमुद्र और पश्चिम समुद्र के जैसे दिखने लगे। अब रात्रि के समय बाहुबली ने समस्त राजाओं की सम्मति से शूरवीर अपने सिंहरथ नाम के पुत्र को सेनापति स्थापित किया, और अपने स्वयं समस्त राजाओं के समक्ष उसके मस्तक पर मानो साक्षात् अपना प्रताप हो ऐसा सुवर्ण पट्ट बांधा। उस समय स्वामी के सत्कार से वह कुमार, अमात्य और राजाओं में, जैसे ताराओं में चन्द्रमा शोभे वैसे अपने तेज से अधिक शोभने लगा। उस समय भरत महाराजा भी अपने कुमार अमात्य और सामन्तों को इस प्रकार शिक्षा देने लगा—'हे स्वामीभक्तो! तुम लोगों ने इस समस्त भारत भूमि को साधन किया, परन्तु उसमें पृथ्वी, पानी

या पर्वतों में, वैसे विद्याधर या देवताओं में कोई भी बल-
वान् तुम्हारे सामने हो ऐसा नहीं मिला, परन्तु यहाँ तो
एक २ वीर जन भी संग्राम में शत्रुओं की *अक्षौहिणी
सेना को हटाने में समर्थ हैं, ऐसे बाहुबली के पुत्र पौत्रा-
दिक तो दूर रहे, परन्तु उनके महा बलवान् और महा
उत्साही एक पदाति (पैदल) के धीर वीर आदि गुणों
के तुल्य हो सके ऐसा यहाँ कोई भी मालूम नहीं होता।
इसलिये इस समय जो इसके सैन्य के साथ लड़ेगा, वही
वसुन्धरा में सच्चा वीर माना जायगा। कारण कि 'जो
महालक्ष्मी की दृष्टि में आया वही सच्चा समझना।'
इसके सैन्य के साथ युद्ध करने वाले की स्वामीभक्ति,
संग्राम में उत्कण्ठा और बाहुशक्ति अब यथार्थ मालूम
होगी, इसलिये बलवान् बाहुबली के इस युद्ध में क्षत्रिय
तेज का भण्डार सुषेण सेनापति रत्न को भक्तिमान्,
कृतज्ञ, पराक्रमी और अपने स्वामी का जय चाहने वाले
तुम सब अब समस्त कार्यों में मेरी तरह समझना।'
इस प्रकार कुमार, अमात्य और सामन्तों को शिक्षा देकर
उसी समय भरत महाराजा ने सुषेण सेनापति के मस्तक
ऊपर सैन्य के भार रूप मुकुट स्थापित किया। इस तरह

---

* उस सेना में २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े
और १०९६५० पैदल होते हैं।

अपने स्वामी के सत्कार से वह महा बलवान् सेनापति शत्रुओं का उच्छेद करने में द्विगुण उत्साह वाला होगया।

अब युद्ध के श्रद्धा वाले वे दोनों सैन्य के सुभट प्रातःकाल सेनापति के आदेश के पहले ही परस्पर युद्ध करने को तैयार हो गये। उस समय संग्राम का भेरीनाद सुनकर शूर वीर सुभटों के शरीर इतने फूल गये कि उनके शरीर पर बखतर भी न आ सके। पीछे हाथी वाले हाथी वालों के साथ, घोड़े वाले घोड़े वालों के साथ, पैदल पैदलों के साथ और और रथ वाले रथ वालों के साथ, इस प्रकार न्याययुद्ध से सुभट लड़ने लगे। दीन वचन बोलने वाले, लड़ना नहीं चाहने वाले, मुख में अँगुली या तृण डालने वाले, भागने वाले, पड़े हुए, ऐसे योद्धाओं को एक दूसरे के सुभट नहीं मारते थे। कितनेक तो वहाँ शत्रु के भय से डरपोक होकर भागने की इच्छा वाले योद्धाओं को सामने के योद्धे उनके पिता आदि के वंश कीर्त्तन से उत्तेजित करके पीछे उसके साथ लड़ते थे। इस प्रकार प्रतिदिन अपने २ स्वामी का विजय चाहने वाले परस्पर युद्ध करते हुए दोनों पक्ष के योद्धाओं में से संख्याबंध सुभट नाश हो गये। परंतु अपने २ सेनापति के पद सब काम का बोझा रखने से धीर वीर उन दोनों महाराजाओं को उसकी कुछ भी खबर न पड़ी।

इस प्रकार कितनाक काल व्यतीत होने बाद इतने अधिक प्राणियों का क्षय होता हुआ जान कर, उसका निवारण करने के लिये दयालु कितनेक देव वहाँ आये और विजय को चाहने वाले एवं क्रोध पूर्वक लड़ते हुए सुभटों को उन्होंने श्री ऋषभदेव की आण देकर युद्ध से रोक दिये। जिनाज्ञा से निवृत्त हुए योद्धाओं उस समय इस प्रकार विचारने लगे—'ये देव अपने पक्ष के हैं या शत्रु पक्ष के हैं? कारण कि युद्ध में उत्कण्ठित मन वाले अपने को युद्ध में अन्तराय करने वाले इन पापियों ने या उनको प्रेरणा करने वालों ने उलटा वैर का पोषण किया है।' अब वे देव प्रथम भरतेश्वर के पास आकर 'चिरंजय' ऐसा आशीर्वाद पूर्वक विनय से इस प्रकार कहने लगे—'हे राजन्! छह खण्ड भरतक्षेत्र के राजाओं को लीला-मात्र से ही जीतने पर भी सिंह की इच्छा शृगालों (सियालों) से पूरी न हो, वैसे उन्हों से आपकी युद्ध श्रद्धा पूर्ण न हुई, जिससे उसको पूरी करने के लिये इस बलिष्ठ लघु बन्धु के साथ यह महा भयंकर युद्ध आपने आरम्भ किया है। परन्तु हे विचारज्ञ! यह सचमुच आपको योग्य नहीं है। यह तो दाहिनी भुजा से बायीं भुजा को काटने का कार्य आप करते हैं। समस्त जनों के हित करने वाले आप सर्वज्ञ प्रभु के पुत्र हैं, जिससे आपको संख्यावन्ध

मनुष्यों का क्षय हो ऐसा उद्यम करना योग नहीं है। फिर महत्व और इच्छा रहित अरिहन्त के पुत्र होकर हे राजन्! राज्य के लोभ से परस्पर युद्ध करने में आपको लज्जा भी नहीं आती? चाटु वचन बोलने वाले लाखों राजाओं से सेवाते हुए भी इस कनिष्ठ बन्धु की सेवा के विना क्या आपको न्यून था? इसलिये हे नराधीश! अकाल में प्रलयकाल के जैसे इस युद्ध से निवृत्त हो और अपनी राजधानी में वापिस चले जाओ। आप यहाँ आये तब समयज्ञ बाहुबली भी सामने आया है, परन्तु आप चले जायँगे तो यह लघुबन्धु भी वापिस चला जायगा और संग्राम के आरम्भ का क्रम निवृत्त होने से तुम्हारे दोनों सैन्य का परस्पर होता हुआ संहार भी तुरंत ही रुक जायगा। हे राजन्! वसुन्धरा पर अकाल में उत्पन्न हुआ यह युद्ध इस प्रकार शान्त हो जाय, समस्त राजा लोग स्वस्थ होकर रहें और प्रजा सुखी रहे।'

इस प्रकार देवों का कथन सुनकर भरतेश्वर बोले—'हे देव! हित को चाहने वाले आपके विना दूसरा कौन इस प्रकार कहे? कहा है कि—

परेषां कलहे प्रायः सर्वः कौतुकमिच्छितुम्।
यज्जनो मिलति च्छिद्रं कोपि भंक्तुं न तं पुनः॥

'समस्त लोक प्रायः दूसरों के कलह में कौतुक देखने के लिये तुरन्त ही इकट्ठे होते हैं, परन्तु कलह को तोड़ने के लिये कोई भी नहीं आता।' हे देव! 'मैं बलवान् हूँ' ऐसा अभिमान से लघुबन्धु के साथ युद्ध करने की मेरी इच्छा ही नहीं है। कारण कि सुवर्ण की कटारी भी अपने पेट में नहीं मारी जाती। 'इसके राज्य को मैं ग्रहण कर लेऊँ' ऐसा लोभी भी मैं नहीं हूँ। मैं तो उलटा इसको जो नहीं है ऐसा दूसरा राज्य भी देने चाहता हूँ। परन्तु चिरकाल दिग्विजय करके घर आये हुए बड़े भाई को यह मदोन्मत्त मिलने भी न आया। अवर्णवाद के डर से इसका यह अपराध भी मैंने तो सहन कर लिया, परन्तु स्वामी-भक्त वीर सेवक यह नहीं सहन कर सके। कभी वे भी सहन करलें, परन्तु आयुधशाला में नहीं पैठने वाला चक्र-रत्न शत्रुओं का सम्पूर्ण नाश किये बिना सन्तुष्ट नहीं होता। अपनी भुजा के बल के गर्व से मुझे यह नहीं नमता। जब तक एक भी नमा बिना रहे, तब तक चक्र आयुध-शाला में नहीं आता और चक्र आयुधशाला में प्रवेश न करे तो चक्रवर्त्ती को बहुत लज्जा कारक है। इसलिये यह विरुद्ध होने पर भी बन्धु के साथ मैंने युद्ध आरंभ किया।' इस प्रकार भरतेश्वर का कहना यथार्थ समझ कर देवता

वहाँ से आज्ञा लेकर युक्तिपूर्वक बाहुबली को समझाने के लिये उसके पास गये।

अपने पास देवता आते ही बाहुबली ने भी उनका स्वागत किया। कारण कि सज्जन लोग अपने घर कोई आवे तब उसका विनयोपचार करना नहीं भूलते। अब वे बलवान् बाहुबली को विनय से कहने लगे—'हे बाहुबली! बड़े भाई के साथ आपको यह अनुचित कलह कैसा? कारण कि कुशल, कुलीन और महा बलिष्ठ आपका भी इस पूज्य के सम्बन्ध में विनयोचित वर्तन होना चाहिये। कहा है कि—

नमन्ति फलिता वृक्षा नमन्ति कुशला नराः।
शुष्कं काष्टं च मूर्खाश्च भज्यन्ते न नमंति च ॥

'फलित वृक्ष और कुशल मनुष्य नमते हैं, तथा शुष्क काष्ट और मूर्ख मनुष्य नाश हो जाय तो भी नहीं नमते।' इसलिये नमने योग्य भरतेश को आप तुरन्त आ करके नमो। कारण कि पूज्य के सत्कार की मर्यादा का उल्लंघन करना, यह भविष्य में कभी लाभदायक नहीं होता। अद्भुत ऐश्वर्य पाने पर भी कुलीन मनुष्य नम्र ही रहते हैं और उस प्रकार के वैभव का अभाव होने पर भी क्षुद्र मनुष्य कभी नम्र नहीं रहते। कहा है कि—

कोटिद्वितयलाभेऽपि नतं सद्वंशजं धनुः ।
अवंशजः शरः स्तब्धो लक्षस्यापि हि लिप्सया ॥

'दोनों कोटि (पक्ष) का लाभ होने पर भी अच्छे वंश (बांस) से उत्पन्न हुआ धनुष्य नम्र रहता है और अवंशज (वांस से न बना हुआ) बाण निशान की इच्छा से अकड़ रहता है । अर्थात् दो कोटि वाला धनुष्य—पक्ष में दो करोड़ द्रव्य वाला मनुष्य नमता है । कारण कि वह सुवंश से—अच्छे बांस से (पक्ष में अच्छे कुल से) उत्पन्न होने से और लक्ष की इच्छा वाला बाण—पक्ष में लाख की इच्छा वाला मनुष्य सद्वंशी न होने से—बांस से उत्पन्न न होने से (पक्ष में अच्छे कुल में उत्पन्न न होने से) नमता नहीं है ।' हे राजन् ! यदि आप उसके अद्भुत ऐश्वर्य की इच्छा करते हो, तो लीला मात्र से जीते हुए सब अतुल ऐश्वर्य वाला भरतेश आपको देने के लिये तैयार है । अपने भुजबल से प्राप्त किया हुआ इतना ऐश्वर्य वह स्वजन प्रेमी भरत अपने भाइयों को बाँट कर भोगने को चाहता है। इसलिये हे सौम्य ! द्रव्य और भाव से अभिमान का त्याग करके घर आये हुए और सेवक को सुरतरु (कल्पवृक्ष) समान अपने बड़े भाई की सेवा करो, कि जिससे आपके संग्राम से होता हुआ इसलोक

और परलोक में अहितकारक करोड़ों मनुष्य, हाथी और घोड़ाओं का संहार करे।'

इस प्रकार देवों की हितशिक्षा अच्छी तरह सुनकर वीराधिवीर बाहुबली गंभीरता पूर्वक इस प्रकार बोला—'हे देव! अधिकतर राज्यलक्ष्मी का लोभी वह अनेक राजाओं को लेकर, सुखपूर्वक बैठा हुआ मेरे सामने जब युद्ध करने के लिये यहां आया, तब ऐसे बड़े भाई के साथ युद्ध करने में मेरा क्या दोष है? उसका आप स्वयं विचार करें। फिर वह विजयशील होने से सर्वत्र अपने को विजयी मानता है। कारण कि भादवा महीना में उसकी आँख चली गई हो वह समस्त पृथ्वी को हरी और आर्द्र (जल वाली) ही मानता है। जैसे लीलामात्र से वृक्षों को उखाड़ने वाला हाथी पर्वत को भेदने के लिये जाता है, वैसे ही अभिमान से वह मुझे भी जीतने के लिये आया है, परंतु संग्राम में लीलामात्र से उसका पराजय करके अहंकार से उत्पन्न हुए ज्वर को सुवैद्य की तरह मैं नाश कर दूंगा। मनोहर गुणों से ही महत्वता (बड़प्पन) प्राप्त होती है, परंतु अवस्था का उस के साथ सम्बन्ध नहीं है। कारण कि सबसे पर्वत वयोवृद्ध होता है, तो भी वह कुछ बहुमान करने योग्य नहीं है। शरीर पर बहुत समय से लगा हुआ दुर्गन्ध मैल का त्याग करने में आता है और तुरंत के खिले हुए फूलों

को मनुष्य मस्तक पर धारण करते हैं। पिताजी ने दिये हुए छोटे भाइयों के राज्य छीन कर, उसने अपने गुणों को तो प्रथम से ही प्रकट कर दिया है। मर्यादा से रहित लोभी, दाक्षिण्य रहित और मदोन्मत्त इत्यादि उसके किस गुण से मैं नमस्कार करूँ ? हे मध्यस्थ देव ! यह आप ही कहो। चतुर पुरुष मनुष्यों की नम्रता को गुण रूप मानते हैं, परन्तु गुण के अभाव में वह भी दोपसूचक होता है। कहा है कि—

अर्जयत्यद्भुतां लक्ष्मीं गुणं प्रति नमद्धनुः ॥
विनां गुणं नमत्काष्ठं वक्रं त्वपयशः पुनः ॥

'गुण से नमता हुआ धनुष्य अद्भुत लक्ष्मी को उपार्जित करता है, परन्तु गुण रहित नमा हुआ काष्ट वक्र (टेढ़ा) और अनादरणीय होता है।' अर्थात् डोरी के साथ नमता हुआ धनुष् लक्ष वेध करता है, परन्तु सामान्य काष्ट टेढ़ा ही हो तो वह उलटा वक्र कहा जाता है। उसने प्राप्त किये हुए ऐश्वर्य को मैं भोगने की इच्छा करूँ, यह तो सिंह को दूसरे ने मार कर दिया हुआ मांस के बराबर है। इसलिये वह मुझे लेशमात्र भी सन्तोष के लिये नहीं है। कारण कि भारतवर्ष के छह खण्ड के समस्त ऐश्वर्य को स्वाधीन करने में और उसका शीघ्र ही निग्रह करने में मुझे एक घड़ी मात्र लगे, परन्तु स्वराज्य और

स्वदारा से सन्तुष्ट मेरा मन परस्त्री और परलक्ष्मी को तृण तुल्य मानता है। पाप के आगामी दुःसह फल को हृदय में समझने वाला एक राज्यमात्र के लिये दूसरे पर निःशंक होकर कौन द्रोह करे ? छोटे भाइयों के साथ जिसका प्रेम देखने में आया है, ऐसा वह विभाग करने को नहीं चाहता, परंतु आप बचाव का झूठा आडम्बर बतलाने वाला वह मेरा राज्य लेने के लिये ही यहाँ आया है। अति खिचने से तुरंत टूट जाता है, अति भरने से तुरंत फूट जाता है और अति खिलाने से विष तुल्य हो जाता है, इतना भी वह क्या नहीं जानता ? दूसरे समस्त राजाओं के राज्य उसने ले लिये, जिससे अति लोभ से पराभूत होकर वह मेरा राज्य ले लेने के लिये ही मुझे भी बुलाता है, परन्तु घर बैठे हुए मुझे उसका राज्य दिलाने के लिये ही उसके मंत्री जिम्मेदारी की तरह उस को यहाँ खींच लाया है, ऐसा मैं मानता हूँ। अभी भी दूसरों के कहने से स्वयं वापिस चला जाय तो खुशी से जाय, मेरे हृदय में लेशमात्र भी लोभ नहीं है। मैंने उस की राज्यलक्ष्मी की अवश्य उपेक्षा ही की है। इसलिये अभी भी उस अनात्मज्ञ (अपने आपको न जानने वाला) को युद्ध से रोको। उदीरणा (प्रेरणा) करके किसी के साथ भी मैं कभी युद्ध करता ही नहीं हूँ, परन्तु मुझ में

गये हुए ग्रास की तरह अनायास से प्राप्त हुए युद्ध की मैं उपेक्षा नहीं करता।'

इस प्रकार पराक्रम से उत्तेजित और युक्तिगर्भित उसके वचनों से देवता निरुत्तर होकर, फिर इस प्रकार कहने लगे—'चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश करे, इसके लिये ही इस समय आपके साथ युद्ध करते हुए चक्री को कौन रोक सके? और अनायास से प्राप्त हुए युद्ध को नहीं छोड़ते हुए आपको भी कैसे रोक सके? कारण कि तेज का भण्डाररूप क्षत्रियों का यही कुलाचार है, परंतु सौजन्य से सुशोभित आप दोनों भाइयों का परस्पर युद्ध अवश्य जगत् के दुर्भाग्य से ही उपस्थित हुआ है। तो भी हे याचितार्थ कल्पवृक्ष! हम आपको प्रार्थना करते हैं कि आप दोनों स्वयं परस्पर उत्तम युद्ध से लड़ें। दोनों लोक में विरोधी और संख्याबंध प्राणियों का विनाशकारक यह मध्यम युद्ध करना आपको योग्य नहीं है। स्वल्प आरम्भ से दृष्टि आदि का युद्ध ही यहाँ उत्तम है और इस युद्ध से भी आपका जय पराजय स्पष्ट समझने में आवेगा।' इस प्रकार देवों का वचन बाहुबली ने करुणा बुद्धि से स्वीकार लिया और पीछे भरत राजा के पास वे देव गये, जिससे उसने भी गर्व सहित स्वीकार किया।

पीछे बाहुबली के छड़ीदारों ने हाथी पर बैठ कर, ऊँचा हाथ करके संग्राम के लिये तैयार हुए अपने सुभटों को इस प्रकार कह कर युद्ध से रोके—"संग्राम की लाज़ जिसके बाहुदण्ड में रही हुई है, ऐसे अपने स्वामी को देवताओं ने प्रार्थना की, जिससे वे भरत महाराजा के साथ शरीर मात्र से (बिना शस्त्र) ही युद्ध करेंगे। इसलिये हे सुभटो! अब युद्ध सम्बन्धी शत्रुओं का द्वेष छोड़ दो और क्रूर संग्राम कर्म से निवृत्त हो। स्वामी की रणकुशलता तुम्होंने पहले कभी देखी न थी, इसलिये आज आश्चर्यपूर्वक विकसित नयन से तटस्थ होकर वह देखो।" इस प्रकार स्वामी की आज्ञा से छड़ीदारों ने रोके हुए भी युद्ध में उत्कण्ठावाले वे खेदपूर्वक हृदय में इस प्रकार विचारने लगे—"चिरकाल से राह देखते हुए इस युद्ध का पर्वदिन आज अपने को प्राप्त हुआ, परन्तु अहो! मुख के ग्रास की तरह दुर्दैव ने यह प्रसंग हटा दिया। सम्पूर्ण भारतवर्ष में भरतेश के सिवाय दूसरा ऐसा कोई नहीं है कि जो अपने भुजबल से युद्ध करने के लिये अपने स्वामी को बुलावे। इसलिये अवश्य! अपने इतना अधिक शस्त्र-परिश्रम वृथा ही किया और स्वामी का ग्रास भी भागीदारों की तरह वृथा खाया। कारण कि दैवयोग से स्वामी के बन्धु के साथ यह रणसंग्राम प्राप्त होने पर भी आज

शत्रु का विनाश करने में अपने उसको उपयोगी न हो सके।"

इस प्रकार उस समय भरत के छड़ीदारों ने भी शत्रु का पराजय करने के लिये तैयार हुए अपने सुभटों को तुरन्त ही संग्राम में से पीछे लौटाये। चक्री की आज्ञा से वापिस लौटे हुए वे इकट्ठे होकर इस प्रकार विचार करने लगे—"अरे! किस शत्रु के विचार से इस समय स्वामी ने दो भुजामात्र से ही युद्ध करना स्वीकार लिया? जैसे परोसने के समय हाथ न जले इसलिये कुड़छी रखी जाती है, वैसे संग्राम में अंग रक्षा के लिये ही राजा सेवकों का संग्रह करता है। जब सेवक विद्यमान होने पर भी यदि राजा स्वयं युद्ध करने को तैयार हो जाय, तो बकरी के गले के स्तन सदृश निरुपयोगी सुभट किस काम के? कभी सेवक भाग जाय, विनाश हो जाय या हार जाय तो पीछे स्वामी को स्वयं युद्ध करना योग्य है, परन्तु ऐसा न हो तब स्वयं लड़ना योग्य नहीं है। फिर महा पराक्रमी अपने स्वामी का युद्ध बाहुबली को छोड़ कर यदि दूसरे के साथ होता तो पराजय की शंका ही न रहे, कारण कि उस अद्वितीय वीर के आगे धान्य के कीड़े के सदृश दूसरे तो दूर रहो, परन्तु इन्द्र भी युद्ध में खड़ा रहने को समर्थ नहीं है। परंतु बलवान् बाहुबली के साथ स्वामी का द्वन्द्वयुद्ध अपने को

परिणाम में हितकारक नहीं लगता।" इस प्रकार पराजय की शंका रूप शल्य से व्याकुल मन वाले अपने सैनिकों को चेष्टा से समझ कर भरतेश्वर कहने लगा—"असाधारण बल के स्थान रूप तुम्हारे से मैं घिरा हुआ हूँ, जिससे कोई भी बलवान् शत्रु संग्राम करने के लिये मेरे पास नहीं आया, जिससे तुम्होंने कभी भी मेरा बाहुबल नहीं देखा, इसलिये यहाँ पराजय की शंका करते हो। कारण कि प्रेम अस्थान में भी भय की शंका करता है। इसलिये शत्रुओं से सहन न हो सके ऐसा मेरा बाहुबल एकबार तुम देखो, कि जिससे मन की शंका दूर हो जाय।"

ऐसा कह कर चक्री ने अपने मनुष्यों के द्वारा एक बड़ा खड्डा खुदवाया और उसके किनार पर सिंहासन रखवा कर उसके ऊपर स्वयं बैठा। पीछे बहुत मज़बूत और लंबी लंबी हज़ारों लोह की शृङ्खला (साँकल) और प्रतिशृङ्खला भरत महाराजा ने अपने हाथ में बँधवाई और बत्तीस हज़ार राजाओं को इस प्रकार आदेश किया कि—'सर्व सैन्ययुक्त समस्त बल से महाबलवान् तुम सब मेरे भुजबल की परीक्षा करने के लिये मुझे शीघ्र ही खिंच कर इस खड्डे में गिरा देना। इस कार्य में मेरी अवज्ञा होगी ऐसी लेशमात्र शंका तुमको नहीं करनी। फिर आज रात्रि में इस प्रकार का दुःस्वप्न मेरे देखने में आया है, जिससे अपने

से ही चरितार्थ किया हुआ वह दुःस्वप्न का फल भी इस प्रकार करने से प्रतिघात होगा।"

इस प्रकार अपने स्वामी की दृढ़ आज्ञा से वे सब उन साँकलों को पकड़ कर एक साथ पूर्ण बल से खिंचने लगे। इतने में भरतेश ने स्वयं पान की बीड़ी लेने को हाथ लंबा किया, तब 'स्वामी इतना खिंचाया' ऐसा समझ कर वे मन में सन्तुष्ट हुए। पीछे वह हाथ पान बीड़ी मुख में रखने के लिये टेढ़ा किया, तब वे सब एक साथ खिंचा कर तुरन्त खड्डे में गिर पड़े। इस प्रकार स्वामी का अतुल बाहुबल देखकर उन्होंने मन से शंका और हाथ से साँकल छोड़ दी।

अब द्वंद्वयुद्ध करने के लिये तैयार हुए वे दोनों ऋषभकुमार प्रथम जिनेश्वर भगवान् की पूजा करने के लिये अपने अपने देवगृह में गये। कारण कि—

धर्मं न हि महाकार्या-पातेऽप्युज्झन्ति पण्डिताः।
सर्वत्र श्रूयते ह्येवं यतो धर्मस्ततो जयः॥

'कभी बड़ा कार्य आ जाय तो भी पंडित पुरुष धर्म का त्याग नहीं करते। कारण कि सब जगह ऐसा सुना जाता है कि जहाँ धर्म वहाँ जयः।' अपने २ देवगृह में परम श्रावक उन्होंने श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा की

दिव्य पुष्प और अक्षत आदि से भक्ति पूर्वक पूजा की। पीछे विधि पूर्वक आरति और मंगल दीपक करके श्रद्धा पूर्वक स्वामी की इस प्रकार यथार्थ गुणस्तुति करने लगे— 'धर्म कर्म सम्बन्धी मार्ग को दिखाने वाले, आठ कर्मों से विमुक्त और मुक्तिरूप वधू के स्वामी हे प्रथम तीर्थेश ! आप जयवन्त रहो। केवलज्ञान से सूर्य समान और संसारसागर में डूबते हुए प्राणियों को तारने वाले हे त्रिभुवनाधीश ! आप जयवन्त रहो। ताप में से निकला हुआ सुवर्ण की जैसी कान्ति वाले हे त्रैलोक्यलोचन ! आप जयवन्त रहो। राजाओं और देवेन्द्रों से सेवित हे वृषभध्वज ! आप विजय पाओ।' इस प्रकार स्तुति नमस्कार करके महाउत्साही और महाबलवान् वे दोनों सर्वांगसज्ज होकर रणभूमि में आये।

प्रथम दृष्टि युद्ध में निर्निमेष और रक्त नेत्र जिन्होंने एक दूसरे के सामने रखे हुए हैं, ऐसे वे दोनों प्रतिज्ञा पूर्वक दृष्टियुद्ध करते हुए बहुत समय तक स्थिर रहे। उस समय आकाश में रहे हुए देवताओं ने, पिछाड़ी रहे हुए देवताओं ने और पिछाड़ी रहे हुए सैनिकों ने दूसरे समस्त व्यापार को छोड़ने वाले योगियों की जैसे उन दोनों को आश्चर्यपूर्वक देखा। पीछे पानी से झरते हुए चक्री के दोनों नेत्र मानो बाहुबली के नेत्र का तीव्र तेज सहन

करनेमें असमर्थ हों वैसे बन्द होगये। उस समय बाहुबली जीते, इस प्रकार चक्रवर्त्ती की अपकीर्त्ति रूप देवकृत ध्वनि आकाश में हुई, बाहुबली के लश्कर में बड़ा हर्ष कोलाहल हुआ और चक्रवर्त्ती का मुख तथा सैन्य इस दुःख से निस्तेज हो गया। उस समय भरत नरेश को लज्जा से विलक्ष मुख वाला देख कर, मन में अभिमान लाकर बाहुबली ने इस प्रकार कहा—'इस घूणाक्षर न्याय से होगया हुआ जय, यह जय नहीं कहा जाता, इसलिये हे महाभुज! उठो और वाग्युद्ध से युद्ध करो।' पीछे चक्री मन में कुछ सन्तोष पाकर कल्पान्त काल की मेघ गर्जना की ध्वनि के सदृश उसने सिंहनाद किया। उस समय उस सिंहनाद से व्याकुल हुए बलद राश का, मदोन्मत्त हाथी अंकुश का और घोड़ाओं चाबुक का अनादर करके इधर उधर भागने लगे। उसके बाद महाबाहु बाहुबली ने प्रति-ध्वनि से आकाश और पृथ्वी के चारों ओर पूर्ण करने वाला सिंहनाद किया। उस नाद के प्रतिघात से पृथ्वी चारों ओर कम्पायमान होगई, समुद्र क्षुभित हुआ, पर्वत चलायमान हुए और दिग्गज भय पाये। उस समय अत्यंत दुःश्रव नाद सुनकर आकाश में रहे हुए देव भी क्षणवार अकाल में ब्रह्माण्ड फूट जाने की शंका से आकुल व्याकुल हो गये। इस प्रकार वारम्बार सिंहनाद करते हुए उन

दोनों वीरों में से चक्री का नाद अधम पुरुष की मैत्री की तरह धीरे २ क्षीण हो गया और अति बलवान बाहुबली का नाद दिन के पश्चाद्द भाग की तरह क्रमशः अधिक २ बढ़ने लगा। इस प्रकार चक्री न जीतने के बाद बाहुयुद्ध करने की इच्छा वाले उसने नगर के मुख्य द्वार की अर्गला के जैसी अपनी भुजा फैलाई। तब बाहुबली ने चक्री की भुजा को कमलनाल की तरह तुरन्त नमा दी और वज्र जैसी अपनी भुजा फैलाई। चक्री ने अपने समस्त बल से उसको नमाने के लिये बहुत प्रयत्न किया, तो भी बहुत समय में उसको कुछ भी चलायमान न कर सका। बाहु-युद्ध में भी इस प्रकार पराजय होने से भरत चक्री का मुख श्याम हो गया। तब तेज का भण्डाररूप बाहुबली फिर उसको कहने लगा—'हे भरतेश बन्धु! इस युद्ध में भी पूर्ववत् काकतालीय न्याय से मेरा जय हुआ है, ऐसा आप न कहें। अभी भी आपकी इच्छा हो तो अपने मुष्टि-युद्ध करें।' यह सुनकर प्रसन्नतापूर्वक चक्री मुष्टियुद्ध से लड़ने के लिये उठे। कारण कि जुआ की तरह युद्ध में भी पराजय स्वादिष्ट लगता है, अर्थात् हारा जुआरी दूना रमता है। उस समय राजा का उचित बोलने वाले चारण-भाट कूर्म, दिग्गज, शेषनाग और वराह आदि को ऊँचे स्वर से इस प्रकार कहने लगे—'वज्र जैसे मजबूत शरीर वाले

बाहुबलीके साथ: वज्र जैसे मज़बूत शरीर वाले चक्रवर्त्ती मल्ल-युद्ध से लड़ने वाले हैं, उन्हीं के प्रहार से बारम्बार आघात पाती हुई वसुन्धरा सन्धिभंग होकर पाताल में न चली जाय, इसलिये तुम सब इकट्ठे होकर समस्त बल से इस विशाल वसुधा को सावधान पूर्वक धर रखना।' पीछे महा बलवान् ये दोनों मल्लयुद्ध से लड़ते हुए कांसी के झाँझ की तरह क्षण २ में संयुक्त होकर पीछे छूटे होते थे। पत्नी की तरह वे क्षणवार में आकाश में उछल कर, क्षणवार में नीचे गिरते थे। इस प्रकार परस्पर की मुठी चुकाने के लिये उन्होंने बहुत समय तक क्रीड़ा की। पीछे बाहुबली ने अपने दोनों हाथों से भरत को उठा कर जैसे यन्त्र से पत्थर का गोला दूर उछाले वैसे आकाश में बहुत ऊँचे उछाल दिया। लघुबन्धु से आकाश में उछला हुआ वह मानो स्वर्ग को जीतने के लिये जा रहा हो, वैसे धनुष्य से छूटे पड़े हुए बाण की तरह क्षणवार में अदृश्य हो गया। उस समय 'अहा! सचमुच! आज यह नररत्न चक्रवर्त्ती मर गया' ऐसा दोनों सैन्य में हाहाकार होने लगा। उस समय बाहु-बली खेद पूर्वक विचारने लगा कि—'इस मेरे अविचारित कार्य को धिक्कार है! और इस पुरुषार्थ को भी धिक्कार है! क्षत्रियों से प्रशंसनीय इस पर तेज की असहिष्णुता को भी धिक्कार है कि जिससे भाई की मृत्यु ही मेरे विग्रह का अंत

हुआ। अभी ऐसा पश्चात्ताप करने से क्या? अभी तो आकाश से यह गिर कर नाश न हो जाय, इतने में उसको अधर ही पकड़ लूं।' ऐसा विचार करके उसने आकाश में स्थिर दृष्टि रखा, तब बहुत समय पीछे गिरते हुए उसको देखकर अधर से ही पकड़कर धीरे से नीचे रखा। द्वेष होने पर भी भाई के स्नेह से ऐसा किया, जिसके बल से आश्चर्य पाये हुए देवों ने उस समय बाहुबली के मस्तक पर पुष्पवृष्टि की। पीछे इस प्रकार के पराभव से लज्जित होकर भरतेश ने क्रोध से बाहुबली के छाती पर तुरंत ही मुष्टिप्रहार किया। यह प्रहार दृढ़ होने पर भी जैसे वज्र के पर घन का प्रहार निष्फल हो जाय और कृतघ्न पर किया हुआ उपकार निष्फल हो जाय, उसी प्रकार वज्रतुल्य वृक्षस्थल में वह निष्फल हुआ। पीछे जिसको कोपाग्नि प्रदीप्त हुई है ऐसा बलवान् बाहुबली ने चक्री की छाती में वज्रतुल्य मुष्टि प्रहार किया। इसके आघात से भरत को चक्कर आगया और अत्यन्त दुःखी होते हुए वह मानो समस्त विश्व चक्र पर पड़ा हो वैसे क्षणबार चारों ओर देख रहा। पीछे तत्काल बेशुद्ध हो गया और मूर्छा से जिसकी आँख ढँक गई हैं ऐसा वह अपने सेवकों के आँसुओं के साथ पृथ्वी पर गिर पड़ा। मंत्री—सामन्तों ने शीतल चन्दन जल से सिंचन किया और चलायमान वस्त्र के छेड़े से वे हवा

करने लगे। इस प्रकार अपने ज्येष्ठ बंधु को देख कर भ्रातृहत्या के भय से जिसको पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ है ऐसा और स्निग्ध आशय वाला बाहुबली भी आँख में आँसू ला कर हवा करने लगा। क्षणवार पीछे सावधान होकर चक्री ने आँख खोला और सैन्य के हर्ष कोलाहल से खड़ा हुआ। उस समय वस्त्र से सेवक की तरह अपन को हवा करते हुए बाहुबली को सम्मुख खड़ा हुआ देख कर भरतेश लज्जित होकर नीचे देख रहा। तब लज्जा से जिसका मुख निस्तेज हो गया है ऐसे भरत को बाहुबली इस प्रकार कहने लगा—"मैं अवश्य पराजित हुआ हूँ। इस प्रकार हे वीर! आप मन में खेदित न हो। जिसने समस्त पृथ्वी लीलामात्र से जीत कर स्वाधीन की है, ऐसे आपके आगे जगत् में कोई तुल्य बल वाला नहीं है। इस जगह दैव वशात् आपका पराजय हुआ तो भी अवश्य आप तो वीर-पुरुष ही हैं। कारण कि देव और असुरों ने मथन किया हुआ समुद्र तो समुद्र ही है।" इस प्रकार उसकी प्रशंसा की जिससे मानो मर्मस्थान में विंध गया हो वैसे अधिक क्रोधायमान हुए भरत राजा ने फिर युद्ध करने के लिये दण्डरत्न हाथ में लिया। यह देख कर 'अहो! मन में अभिमान लाकर यह भरत अभी तक युद्ध के व्यवसाय को नहीं छोड़ता, इसलिये अवश्य! यह मुझे

भ्रातृहत्या देगा।' इस प्रकार मन में विचार करते हुए बाहु-वली के मस्तक पर चक्री ने क्रोधायमान होकर विना विचार किये ही दण्ड का प्रहार किया। उस दण्ड के आघात से खेदित होता हुआ और क्षणवार आँखों में चक्कर खाता हुआ वाहुवली जानुतक पृथ्वी में घुस गया। पीछे क्षणवार में स्वस्थ होकर, पृथ्वी से वाहर निकल कर और क्रोधायमान होकर उसने भरतेश के माथे में सख्त दण्ड प्रहार किया; तब वज्र की तरह दुस्सह आघात से अत्यन्त दुखित होता हुआ भरत भूपति अचेत होकर कंठ तक पृथ्वी में घुस गया। उस समय सख्त पीड़ा के आवेश से भ्रमित होता हुआ और फक्त जिसका मस्तक ही वाहर रहा हुआ है ऐसा भरत कुछ समय सूर्य को भयकारक राहु की जैसे लगा। पीछे शीतल पवन से सावधान होकर कुछ समय में पृथ्वी में से वाहर निकला और विजय की आशा छोड़कर खेद-पूर्वक विचारने लगा—'अहो! सुर असुर और मनुष्यों के समक्ष इस महा बलवान् ने मुझे पाँच युद्धों में जीत लिया और जीवित का संशय भी कर दिया, इसलिये अवश्य! जैसे चमरेन्द्र से वैमानिक देव नहीं जीता जाय वैसे अब यह महावाहु भी मेरे से जीतना अशक्य है। ऐसा कभी देखा नहीं और लोक में या शास्त्रों में सुना भी नहीं कि दूसरे राजाओं से राजाधिराज चक्रवर्ती

जीता जाय ! इसलिये यह महाबाहु ही अवश्य इस वसुधा पर चक्री है और मैं इसकी आज्ञा में रहने वाला सेनापति के तुल्य हूँ।' इस प्रकार खेदपूर्वक विचार करते हुए चक्री के हाथ में उस समय चक्र के अधिष्ठाता देवों ने चक्र रक्खा। अपने हाथ में चक्र आने से उसने अपने को चक्री-पन का निश्चय हुआ। पीछे फिर जय की आशा करता हुआ भरत मन में आनन्द पाया। अब जिसने हाथ में चक्र लिया है ऐसा भरत को देखकर वाहुवली विचारने लगा—'अहो न्याय युद्ध के मार्ग से भ्रष्ट हुए इस पापी राजा को धिक्कार हो! कारण कि समान वाहन और आयुध से लड़ना ऐसा क्षत्रियों का न्याय है और यहाँ तो मेरे हाथ में अभी तो दंड है तो भी इसने लड़ने के लिये चक्र लिया है।' इस प्रकार मन में विचार करने वाले वाहुवली को भरत राजा ने कहा—'हे वत्स! अभी तक कुछ नहीं बुरा हुआ, इसलिये आकर मेरी सेवा स्वीकार कर। मुझे वृथा भ्रातृहत्या न दे। कारण कि मदोन्मत्त शत्रुओं का उच्छेद करने के लिये यह अमोघ चक्ररत्न को पीछा हटाने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।' ऐसे वचनों को सुनकर कुछ अवज्ञा पूर्वक वाहुवली ने हँसते २ कहा—'हे भ्रात! यह लोखंड के टूकड़े से मुझे भय क्या वतलाता है? ऐसा भय से डरने वाले दूसरे हैं। यह कुछ कैथ का

फल नहीं है कि वायु से तुरन्त गिर पड़े। इतने समय आपने अपनी भुजा का बल देखा, अब हे वीर! एक बार इस चक्र का बल भी देखो।' इस प्रकार लघुबन्धु ने कहा, तब भरत अत्यन्त कोपायमान हुआ और पूर्ण बल से अपने मस्तक पर चक्र को घुमाकर तुरंत ही बाहुबली के ऊपर छोड़ा। उस समय 'पहले के पराजय से कलुषता अब धो डाली' इस प्रकार आनन्द-पूर्वक भरत का सैन्य ऊँचे देख रहा और 'शक्ति आदि अस्त्रों से दुर्निवार यह चक्र क्या स्वामी के शरीर पर आता है?' इस प्रकार बाहुबली का लश्कर खेद पूर्वक देख रहा, तथा 'राज्य के लोभी चक्री ने यह अयोग्य किया।' इस प्रकार देव आकाश में हाहाकर करते हुए देख रहे। उस समय चारों ओर ज्वाला छोड़ता हुआ और अपने पास आता हुआ चक्र को देखकर बाहुबली मन में विचारने लगा कि—"क्या इसको दूर से ही मुद्गरों के प्रहार से रोक दूं। या समीप आवे तब मुष्टि के सख्त प्रहार से इसको चूर्ण कर डालूं। या समीप आते ही कबूतर के बचा की तरह हाथ में पकड़ लूं। या तो यह यहाँ आकर क्या करता है, यह एकबार देख लूं।" ऐसा निर्भय मन से बाहुबली विचार करता था, इतने में उसको प्रदक्षिणा देकर चक्र जैसा आया था, वैसा वापिस भरत के पास चला गया।

अब कार्य सिद्धि किये विना निष्फल होकर चक्र जब वापिस आया, तब चक्री मन में खेद पूर्वक विचारने लगा—'अरे! मैंने निर्दाक्षिण्य और जगत् में निन्दनीय कार्य किया तो भी मेरी इच्छित कार्य सिद्धि कुछ भी न हुई। जिससे सचमुच! 'चाण्डाल के घर में जाने पर भी हड्डी की भूख न गई' यह कहावत जैसा मुझे हुआ। यह लोकोक्ति सच्ची हुई।' इस प्रकार अपने लघुबन्धु पर के समस्त प्रयत्न निष्फल हुए, तब लज्जा से विलक्ष मुख करके भरत राजा किंकर्त्तव्यमूढ़ बन गया। अर्थात् अब क्या करना इसकी कुछ खबर न पड़ी।

अब बाहुबली विचार करता है—

"अभी तक सचमुच! भ्रातृभाव से ही मैंने उपेक्षा की, तो भी यह पापात्मा अपने दुष्ट स्वभाव का त्याग नहीं करता। इसलिये अब कुछ भी दरकार किये विना एक मुष्टि से ही इसको चूर्ण कर डालूं! कारण कि इस मूढ़ात्मा को शरीर पर अनुभव हुए विना विश्वास नहीं बैठेगा।" इस प्रकार विचार करके क्रोध से उत्तेजित होकर बाहुबली दूर से मुठी उपाड़ कर भरत को मारने दौड़ा। भाई को मारने के लिये दौड़ते समय क्रोध से जिसके नेत्र लाल हो गये हैं ऐसा और शुभाशुभ का विचार करने में बृहस्पति समान बाहुबली इस प्रकार विचार करने लगा—'जगत्

में निन्दनीय यह अविचारित कार्य को धिक्कार हो, कि जिससे पिता तुल्य बड़े भाई को मारने के लिये मैं तैयार हूँ। जहाँ लोभी राजाओं से इस प्रकार बन्धुओं का भी विनाश होता है। ऐसा मलिन राज्य नरक में ले जाने वाला होता है, ऐसा शास्त्रकार ने कहा है, यह यथार्थ है। इस प्रकार बड़े भाई का विनाश करके यदि बड़ा राज्य भी मिलता हो तो दुष्कर्म का मूल रूप राज्य से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इसलिये लोभाभिभूत और मेरे से उपेक्षा कराया हुआ यह बेचारा चिरकाल जीवे और निष्कण्टक राज्य को भोगे। मैं तो अब सब सावद्य और आरम्भ युक्त भोग का त्याग करके परमात्मा तात के पवित्र मार्ग को ही स्वीकार करूँ।"

इस प्रकार अक्षत वैराग्य के रंग से रंगित होकर आंतर शत्रुओं (कषायों) को जीतने की इच्छा वाला बाहुबली दीक्षा ग्रहण करने को तैयार हुआ और भरतेश्वर को मारने के लिये दूर से जो मुठी उपाड़ी थी, उस मुष्टि को केशों का लोच करने के लिये उसने अपने मस्तक पर ही चलाई और चिरकाल से उत्पन्न हुए सांसारिक क्लेशों का कन्दरूप अपने मस्तक और दाढ़ी मूछ के केशों को पंच मुष्टि से लोच करके, देवताओं ने जिसको सहाय दिया है ऐसा बलिष्ठ चक्रवर्त्ती को समस्त युद्ध में जीतने पर भी

राज्यलक्ष्मी और राज्य सुख में निस्पृह वाले, इस प्रकार के संग्राम में भी शीघ्र ही शान्त स्वभावी होने वाले, और 'अहो! यह बड़ा आश्चर्य' इस प्रकार आश्चर्य पूर्वक आकाश में रहे हुए देवों से दिखाता हुआ, सत्व का भंडाररूप वाहुवली ने सर्वचारित्रव्रत स्वीकार लिया।

पीछे 'यदि इस समय पिता जी के पास जाऊँगा तो पहले के दीक्षित और केवलज्ञानी लघुबन्धुओं को मुझे वन्दन करना पड़ेगा, इसलिये जव तक मुझे उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त न हो तब तक चार प्रकार के आहार का त्याग करके यहाँ ही स्थिर रहूँ।' इस प्रकार निश्चय कर मन में कुछ अभिमान लाकर, वाहुवली मुनि कायोत्सर्ग करके वहाँ ही पर्वत के जैसे निश्चल होकर रहे।

अब देवताओं ने जिसको यतिवेष दिया हुआ है ऐसा, मत्सर रहित और आत्मा में रमण करने वाले वाहुवली को देखकर भरतेश्वर लज्जित होता हुआ इस प्रकार विचारने लगा—'अहो! समस्त युद्ध में अपने भुजबल से मुझे पराजित करके अपने आधीन हो सके ऐसे बड़े राज्य का इस प्रकार लीलामात्र से इन्होंने त्याग कर दिया और मैं तो युद्ध में उनसे बहुत बार पराभव पाया तो भी अखंड पृथ्वी के राज्य की दुष्ट आशा को अभी तक भी छोड़ता नहीं हूँ। एक जगदीश्वर के हम दोनों पुत्र होने

पर भी कर्म की विचित्रता से हम दोनों में कितना अंतर पड़ा, यह तो देखो!' इस प्रकार मन में विचार करने बाद सब सामन्त और सचिव आदि के साथ भरतेश्वर उस लघुबन्धु के चरण में गिर कर, आँख में आँसू लाकर कहने लगा—'हे क्षमाधन! अतिलोभी और दुरात्मा मैंने इस समय जो आपका अपराध किया है, वह क्षमा करो। हे बंधु! पहले सब बंधुओं के वियोग से दुःखित हुए मुझे आपका वियोग क्षत पर क्षार जैसा दुःसह हो जायगा। इसलिये हे बंधु! बान्धवों के वियोगाग्नि से तप्त हुए मुझे स्नेह सहित आलिंगन और आलाप रूप जल से सिंच कर शीघ्र ही शीतल करो। हे महावीर! आप ही जिसका एक जीवन है ऐसे इन पत्नी पुत्र और सेवकों को एक बार स्नेह युक्त दृष्टि से देखो।' इत्यादि नम्र वचनों से चक्री ने बहुत बार कहा तो भी शत्रु या मित्र, सुवर्ण या लोह और स्त्री या तृण आदि में जिनकी समान दृष्टि है ऐसे तथा बांस और चन्दन में तुल्य हृदय वाले, शुभ ध्यान में आरूढ़ और नासिका के अग्र भाग पर जिसने अपनी दृष्टि रखी हुई है, ऐसे बाहुबली मुनि ने उनके सम्मुख देखा भी नहीं। पीछे समस्त संसार का संसर्ग जिसने छोड़ दिया है ऐसे महामुनि को विनय से मस्तक नमा कर भरतेश्वर आदर पूर्वक स्तुति करने

लगा—'सब शत्रुवर्ग को जीतने वाले हे जगद्वीर बन्धु ! आप जयवन्त रहो। पापरज को दूर करने में पवन समान हे तत्त्वज्ञ चूड़ामणि ! आप जय पाओ। पिता के मार्ग में चलने वाले हे भ्रात! आप विजयी हो। हे संसार पारगामी ! आप जयवन्त हो। राग द्वेष से रहित हृदय वाले हे शान्तरस के आधार ! आपका विजय हो।' इस प्रकार स्तुति करने बाद भ्राता का पुत्र सोमयशा को स्नेह पूर्वक बुलवा कर बड़े उत्सव के साथ उसको तक्षशिला के राज्य पर बिठलाया और स्वयं लघुबन्धु के लोकोत्तर चरित्र से हृदय में आश्चर्य पाता हुआ अपनी राजधानी में गया।

अब प्रभु के पवित्र उपदेश से प्रतिबोध पाकर भरतेश्वर की बहिन ब्राह्मी ने तो प्रथम से ही दीक्षा ले ली थी। उस समय शुभ आशय वाली सुन्दरी भी चारित्र लेने को तैयार थी, परन्तु 'यह मेरा स्त्रीरत्न होगा' इस हेतु से भरतचक्री ने उसको दीक्षा लेने से रोकी थी। जिससे दीक्षा लेने में अति उत्कंठा वाली सुन्दरी ने साठ हज़ार वर्ष तक निरन्तर आयंबिल तप किया। भरतचक्री साठ हज़ार वर्ष में दिग्विजय करके घर आये और समस्त राजाओं ने बड़ा उत्सव पूर्वक बारह वर्ष तक उसका राज्याभिषेक किया। पीछे निश्चिंन्त होकर अपने

समस्त कुटुम्ब की संभाल लेते समय हिम से दग्ध हुई कमलिनी की तरह सुन्दरी को अतिकृश देख कर रसोइया को पूछा कि—'यह सुन्दरी ऐसी दुर्बल कैसे होगई ? क्या हमारे घर में भोजन की न्यूनता है ? या इसके शरीर को कोई विषम व्याधि अधिक दुःख करती है ? या तो घर में किसी ने भी माननीय सुन्दरी का अपमान किया है ?' इस प्रकार सुनकर वे कहने लगे कि—'हे देव ! इसकी दुर्बलता का कारण इनमें से एक भी नहीं है, परन्तु दीक्षा लेते समय आपने इसको रोकी थी, तब से यह संसार व्यवहार के संग से विरक्त होकर शरीर की दरकार किये बिना निरन्तर आयंबिल का तप करती है।' इस प्रकार उसकी दुर्बलता का कारण अपने को ही समझ कर, चित्त में खेदित होकर भरतेश्वर सभ्यता पूर्वक सुन्दरी को कहने लगा कि—'हे शुभाशये ! उस समय चारित्र लेने की इच्छा वाली तुझे मोहान्ध मन वाले मैंने अन्तराय किया है, यह मेरा अपराध क्षमा कर। विषयों से संसार सागर में डूबते हुए मैंने तुझे भी इस प्रकार डूबाने का प्रयत्न किया, इसलिये यह मेरे अज्ञान-पन को धिक्कार हो। प्रव्रज्या की प्राप्ति के लिये अभिग्रह वाली हे शुभे ! तूने ऐसा दुःसाध्य तप किया। अहो ! यह कितनी तेरी भवभीरुता ! इसलिये अब शीघ्र ही बिना

के पास संयम लेकर, संसार-सागर का पार पाकर, परम पद को प्राप्त कर।' अक्षय वैराग्य वाली सुन्दरी भरतेश्वर की आज्ञा प्राप्त कर, जैसे निर्धन निधान पाकर खुश होता है, वैसे हृदय में अत्यन्त हर्ष पायी। पीछे शुभदिन में बढ़ते हुए वैराग्य से शुभ आशय वाली सुन्दरी ने पिता के चरण समीप चक्री के किये हुए महा उत्सव पूर्वक दीक्षा ली।

अब किंचित् अहंकार पूर्वक कायोत्सर्ग में निश्चल मन करके रणभूमि में ही रहे हुए बाहुबली के पास एक वर्ष के अन्त में उसको प्रतिबोध देने के लिये यथार्थ जानने वाले प्रभु ने उसका वृत्तान्त कह कर ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा। तब वे दोनों बहिन वहां जाकर सर्वत्र तलाश की, परन्तु बाहुबली मुनि देखने में नहीं आया। तब 'वहाँ कोई देखने में नहीं आता' इस प्रकार उन्होंने वापिस आकर भगवान् को कहा। फिर प्रभु ने इसप्रकार निशानी पूर्वक उनको कहा कि 'हे वत्से! वहाँ ही सावधान होकर देखो।' पीछे वहां सावधानता पूर्वक देखने से वन वृक्ष की तरह लताओं से चारों ओर घिरे हुए, जिसका शरीर इच्छानुसार फिरते हुए सर्पों से वेष्टित है, जिसके दोनों कानों में अत्यंत विश्वासु पक्षिओं ने घोंसले किये हुए हैं, वर्षा, शीत और आतप के दुःसह क्लेशों

को सहन करने वाले, भूमि को भेद कर बाहर निकले हुए तीक्ष्ण दर्भों से जिसके दोनों चरण विंध गये हैं, अनेक प्रकार के उपसर्ग के प्रसंग में भी पर्वत की तरह जिसका शरीर अचल है और नासिका के अग्रभाग पर जिसने अपना नेत्र युगल स्थापित किया है, ऐसा बाहु-बली मुनि उन दोनों बहिनों के देखने में आया। पीछे अहंकार युक्त हृदय वाले उस बांधव मुनि को दूर से नमस्कार करके वे दोनों बहिन परिणाम में हित कारक ऐसा वचन बोलीं—'हे भ्रात! हाथी के स्कंध पर बैठे हुए मनुष्य को उज्ज्वल केवलज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता, इसलिये आप गज पर से नीचे उतरो।' इतना सुनते ही अपनी बहनों का वचन समझ कर वह विचा-रने लगा—'इन मेरी बहन साध्वियों ने इस समय असं-भाव्य जैसा यह क्या कहा? कारण कि बहुत समय से समस्त सावद्य योग का त्रिकरण योग से जिसने त्याग किया है और वन में तपस्या करने वाले मुझे यहां हाथी का संभव भी नहीं। परन्तु व्रत वाली इन साध्वियों की उक्ति मिथ्या भी नहीं हो सकती। इसलिये यहां तात्पर्य क्या होगा? अहा! अब मेरे समझ में आया! "व्रत से बड़े और ज्ञानवंत लघुबंधुओं को मैं किस प्रकार वंदन करूं?" इस प्रकार के गर्व (अभिमान) रूप हाथी के

स्कंध पर मैं बैठ रहा हूँ । अहो ! मैं मूढ़ ने अहंकार रूप कादव के संसर्ग से ऐसा पवित्र चारित्र मलिन किया । इसलिये मुझे धिक्कार हो ! जो शान्त रस से परिपूर्ण है और अहंकार के रज से मन को मलिन नहीं करता, यही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है । फिर एक क्षण वार भी जो हृदय में सम्यक् प्रकार दीक्षा परिणामी हो तो मनुष्यों के अनेक भवों में उपार्जित किये हुए पापों को वह शीघ्र ही क्षय करती है । इसलिये क्षणवार पहले दीक्षा लेकर साधु हुए हो, वह कभी सामान्य हो तो भी पीछे से दीक्षा लेने वाला सार्वभौम (चक्रवर्त्ती) उसको नमता है । कहा है कि—

अभिगमणवंदणनमंसणेण
पड़िपुच्छणेण साहूणं ।
चिर संचिअंपि कम्मं खणेण
विरलत्तणमुवेइ ॥

'साधु के सामने जाने से, उसको वंदन करने से, नमस्कार करने से और सुख शाता पूछने से चिर संचित पाप भी क्षणवार में नष्ट हो जाते हैं ।' इस प्रकार अहंकार रहित होकर प्रभु के पास जाने के लिये चरण उठाते हैं

इतने में घातीकर्मों के क्षय से तुरंत ही उज्ज्वल केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। पीछे प्रभु को प्रदक्षिणा देकर अपनी प्रतिज्ञा जिसने सफल की है ऐसे बाहुबली केवली केवल ज्ञानियों की पर्षदा में जाकर बैठे।

अब मोह निद्रा में सोते हुए भव्य जनों को चिरकाल तक प्रतिबोध देकर केवलज्ञान के प्रकाश से भास्कर समान ऐसे श्री युगादिजिनेश, बाहुबली आदि सब ९९ कुमार और आठ प्रभु के पौत्र, इस प्रकार एक सौ आठ, ये सब एक साथ ही अष्टापद पर्वत पर सिद्धपद को पाये। ब्राह्मी और सुंदरी भी दुस्तर तप करके समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष में गईं।

जिस भरत चक्रवर्त्ती के दोनों चरणों के नीचे नव निधिएँ संचरती हैं और देवताओं से सेवनीय चौदह रत्न जिसके घर में निवास करते हैं, जिसको छियानवे करोड़ ग्राम, छियानवे करोड़ पदाति (पैदल सेना), चौरासी लाख रथ, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख घोड़े, पचीस हज़ार देव सेवा करने वाले हैं। तथा बत्तीस हज़ार मुकुट बंध राजा जिसकी सेवा में सर्वदा हाज़िर रहते हैं, चौसठ हज़ार भोग की भूमि रूप जिसको रमणीय राणियाँ हैं, सवा लाख वारांगना, बीस हज़ार वज्र आदि रत्न की खान, श्रेष्ठ राज्य से जिसमें समस्त प्रजा

आनंदित है ऐसे बत्तीस हज़ार महादेश, छत्तीस हज़ार वेलाकुल, बहत्तर हज़ार बड़े बड़े श्रेष्ठ शहर, अड़तालीस हज़ार पट्टन, सोलह हज़ार खेट, चौबीस हज़ार समृद्धि-वाले मडंब, चौबीस हज़ार कर्वट, निन्नानवे हज़ार द्रोण-मुख और चौदह हज़ार संबाधन जिसको हैं। इन ग्रामादि का लक्षण इस प्रकार है—"बाढ़ से घिरे हुए को ग्राम क़िला और चार बड़े बड़े द्वारों से सुशोभित हो उसको नगर, समुद्र के किनारे पर हो उसको वेलाकुल, नदी और पर्वत से घिरे हुए को खेट, चारों ओर पर्वत से घिरे हुए को कर्वट, एक हज़ार ग्रामों से युक्त हो उसको मडंब, जहाँ रत्न की खान हो उसको पट्टन, समुद्र की वेला से घिरे हुए को द्रोण और पर्वत के शिखर पर बसा हुआ हो उसको संबाधन कहते हैं।" इनके उपरान्त सोलह हज़ार म्लेच्छ राजा जिसके सेवक हैं। इत्यादि उत्कृष्ट ऐश्वर्य पृथ्वी पर उसका इतना है, बाकी उसका सामान्य ऐश्वर्य का तो वर्णन ही नहीं हो सकता।

अब वह चक्रवर्ती स्नान विलेपन करके सर्वांग विभूषित होकर आरिसा-भुवन में प्रतिदिन अपने शरीर की शोभा देखता था। एक दिन मुद्रिका रहित बिना शोभा वाली अपनी एक अंगुली को देखकर कौतुक से क्रमशः अपने शरीर पर के समस्त आभूषणों को उसने उतार

दिया। उस समय फाल्गुन मास में समस्त पत्ते गिर पड़े हुए वृक्ष की तरह अपने शरीर को अत्यन्त शोभा रहित देखकर भरतेश हृदय में बहुत खेद पाया। उसने विचारा कि—अहो! विलेपनादि करने से जैसे दीवार की शोभा दीखती है, वैसे भूषणादि से ही शरीर की असाधारण शोभा दीखती है। उसको धिक्कार हो। भीतर विष्टादिक मल से व्याप्त और बाहर नव द्वारों से निकलते हुए मल से मलिन, ऐसा इस शरीर का विचार करने से कुछ भी उसमें अच्छा नहीं। यदि बाहर से कभी किसी प्रकार यह रमणीय लगे, तोभी भीतर तो यह कृमिगण से व्याप्त वटवृक्ष के फल सदृश दुर्गन्ध से व्याप्त है। जैसे क्षार भूमि वर्षात के जल को दूषित करती है, वैसे यह शरीर कपूर कस्तूरी आदि चीज़ों को भी दूषित ही करता है। मांस, विष्टा, मूत्र, मैल, स्वेद और रोगमय इस शरीर का सेवन, यह घर की मोरी (पनाला) का सेवन जैसा है। विषयों से विरक्त होकर जिनने मोक्ष के फल रूप तप तपे, वे तत्त्वज्ञ पुरुषों ने ही इस शरीर का फल प्राप्त किया समझना। क्षणवार में दृष्ट नष्ट ऐसी बीजली से मार्ग देख लेने की तरह विनश्वर इस शरीर से मोक्ष साधन हो सके तो वही उत्तम है। अहो! अरघट्ट के घड़े की तरह संसार में गमनागमन करते हुए प्राणी अद्यापि निर्वेद नहीं पाते।"

इस प्रकार वृद्धि पाता हुआ शुभ ध्यान रूप निर्मल जल से अन्तःकरण का समस्त मल जिसने धो डाला है, ऐसा वह राजहंस (भरतेश्वर) पवित्र होगया। महान् उच्च प्रकार की लक्ष्मी और संपत्ति के संयोग में भी बड़े मन वाले और पद्म पत्र की तरह निर्लेप प्रकृति वाले, जिनके ऊपर छत्र धारण हो रहा है, तथा वारांगनाएँ जिनको सुन्दर चामर वींज रही हैं, ऐसा श्री भरतेश्वर तुरन्त ही भाव-यति होकर केवलज्ञान पाये। पीछे देवताओं ने जिनको साधु वेश देकर ज्ञान का महोत्सव किया है ऐसा भरत महाराजा बहुत काल तक पृथ्वी पर विचर कर, अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर अन्त में परमपद को पाये। पीछे प्रधानों ने प्रभु के पौत्र और भरत महाराजा का पुत्र पराक्रमी आदित्ययशा कुमार को भरत महाराजा के पाट अभिषेक किया।

यहां प्रसंगोपात्त भरत चक्री, बाहुबली राजा, ब्राह्मी और सुन्दरी के प्रतिबोध आदि का वर्णन किया है। मुख्यता से अठानवे पुत्रों को प्रतिबोध करने वाली, इस भव तथा परभव में प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के दुष्कर्म के फल को बतलाने वाली और पाप को नाश करने वाली ऐसी आदिनाथ परमात्मा की इस धर्मदेशना को सुन कर हे भव्य जीवो! श्री जिन प्रणीत धर्मके लिये निरन्तर प्रयत्न करो।

प्रशस्तिः—

बृहद्गच्छ में गुण श्रेष्ठ, तीव्र तपे निष्ठ और श्री तप ऐसा बिरुद से प्रख्यात श्री जगच्चंद्रसूरि हुए। क्रम से उनके पीछे भाग्य और सौभाग्य में अद्वितीय तपागच्छ के स्वामी श्री सोमसुन्दरसूरि हुए। उनके पाट सहस्रावधानी और विस्तृत महिमा वाले युगप्रधान श्री मुनिसुन्दर सूरि हुए। उनके चरणकमल में भ्रमर समान श्री सोममण्डन गणि ने स्वपर के उपकार के लिये यह श्री युगादि जिन-देशना रची है। इसमें अज्ञान या अनाभोग से जो कुछ शास्त्र विरुद्ध कहने में आया हो, उसका अरिहन्त और सिद्धादि की साक्षी से मिथ्या दुष्कृत हो। परोपकार में लीन ऐसे बुद्धिमानों से यह आलोच पूर्वक सुधारने योग्य है। और जय तथा अभ्युदय को देने वाली यह देशना उनको बांचने योग्य है। श्री मुनिसुन्दरसूरि के पाट वर्त्तमान विजयवन्त श्री रत्नशेखरसूरि विद्यमान हैं, वे आपको मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति के निमित्त हो।

इति युगादि जिन देशना समाप्ता